तृतीय अध्याय

अमृतलाल नागर के कथा-साहित्य में प्रतिबिंबित लखनऊ का जन-जीवन

तृतीय अध्याय

अमृतलाल नागर के कथा-साहित्य में प्रतिबिंबित लखनऊ का जन-जीवन

१.१ प्रस्तावना

१.२ अमृतलाल नागर के कथा-साहित्य में लखनऊ का सामाजिक-जीवन

(१.) नवाबों के समय में लखनऊ का सामाजिक-जनजीवन

(२.) मध्यवर्ग का उदय और राष्ट्रीय-चेतना का विकास

(३.) स्वदेशी-आंदोलन

(४.) स्वातंत्र्योत्तर लखनऊ का सामाजिक-जनजीवन

१.३ अमृतलाल नागर के कथा-साहित्य में लखनऊ का सांस्कृतिक-जीवन

(१.) धार्मिक-जनजीवन

(२.) पर्व, त्योहार और मेले

(३.) लखनऊ के लोकगीत

(४.) रीति-रिवाज और प्रथा-परंपरा

(५.) वेशभूषा

(६.) खान-पान और मनोरंजन

(७.) अभिवादन

(८.) बोलचाल

(९.) हिन्दी-उर्दू विवाद

१.४ अमृतलाल नागर के कथा-साहित्य में लखनऊ के चौक का जीवन

(१.) चौक की सामाजिक-संरचना

(२.) चौक का सामाजिक-जनजीवन

१.५ निष्कर्ष

१.६ सन्दर्भ

अमृतलाल नागर के कथा साहित्य में प्रतिबिम्बित लखनऊ का जन-जीवन

प्रस्तावना :

प्रत्येक लेखक अपने युग की परिस्थितियों से प्रभावित होता है। ये परिस्थितियाँ उसके व्यक्तित्व के निर्धारण में महत्वपूर्ण योगदान देती है और लेखक की कृतियों में स्पष्ट रूप से झलकती है। और यह बात अमृतलाल नागर के जीवन में भी प्रतिबिम्बित होता है। नागरजी के पूर्व के समय से ही लखनऊ भारत के महत्वपूर्ण शहरों में से एक माना जाता रहा है। लखनऊ प्राचीन कोशल राज्य का हिस्सा था और यह भगवान राम की विरासत का भी हिस्सा था, जिसकी बागडोर भगवान राम ने अपने भाई लक्ष्मण को प्रदान कर दी थी। इन्हीं लक्ष्मण के नाम पर इसे लखनावती, लक्ष्मणपुर या लखनपुर के नाम से जाना जाता था। अंग्रेजों के आगमन के समय से इसे लखनऊ कहा जाने लगा। लखनऊ नवाबों का शहर रहा है। "लखनऊ प्राचीन नगर रहा है अवध के नवाबों की राजधानी भी रहा है। नगर की गोमती नदी, लक्ष्मण-टीला, बाबरी-मस्जिद, रूमी-दरवाजा, इमाम बाड़े तथा नवाबों के बारे में लेखक अपने बचपन से ही सुनता आ रहा था, इसके सद्भावी और मेल-जोल के रहन-सहन और मिली-जुली संस्कृति ने उन्हें साहित्यकार बनने में मदद दी।"[1] नवाबी शासन से पूर्व लखनऊ समाज विभिन्न धर्म और जाति में बँटा हुआ था। प्रारंभ में वहाँ ब्राह्मण और कायस्थ जातियाँ थी। बाद में 'भर' और 'पासी' आयीं, जिनसे सालार मसूद गाजी का १०३० ई. में मुकाबला हुआ। १२०२ ई. में बख्तियार खिलजी ने उन पर चढ़ाई कर विजय प्राप्त की। लखनऊ का व्यापारिक मंडी के रूप में विकास अकबर के शासनकाल में हुआ और इसकी आर्थिक उन्नति से लालायित होकर विभिन्न जनपदों में लोग आने लगे और यह नगर आर्थिक-उन्नति का केंद्र बन गया। व्यापार-वाणिज्य के अतिरिक्त यह नागर धीरे-धीरे विद्या, व्यापारी, कला-कौशल, राजनीतिक और सांस्कृतिक विधाओं के लिए विख्यात हो गया।

यह नगर हिंदी और उर्दू-साहित्य के केंद्रों में से एक है। इस नगर ने बीते ७-८ सौ वर्षों में अनेक विभूतियों को जन्म दिया है। २०वीं सदी में विभूतियों में 'अमृतलाल नागर' का स्थान महत्वपूर्ण है। उनकी छवि एक ऐसे साहित्यकार और कलाकार के रूप में उभरकर सामने आती है, जिसने भारतीय-समाज को साथ-साथ समझने और स्थापित करने की जिद ठान रखी है। यह भी माना जाता है की हिंदी-आलोचना में नवजागरण के बहाने जो काम रामविलास शर्मा करते

रहे, रचनात्मक-लेखन के क्षेत्र में वही काम १८५७ ई. में हुए संघर्ष को भारत का पहला स्वाधीनता संग्राम के नाते एक ठोस असहमति के साथ अमृतलाल नागर करते रहे। रामविलास शर्मा और नागरजी के बीच की इस साम्य और सहमति का स्पष्ट वैचारिक-आधार है और वह यह कि रामविलास शर्मा के अनुसार १८५७ में भारतीयों ने पहली स्वाधीनता की लड़ाई लड़ी थी, जबकि अमृतलाल नागर का मानना था कि यह संघर्ष नवाबों और जमीदारों का अपनी सत्ता बचाने का आखिरी प्रयास था। 'एकादा नैमिषारण्ये' से लेकर उनके अंतिम उपन्यास 'पीढ़ियाँ' में प्राचीन भारत से लेकर आधुनिक भारत के समाज, उसकी संरचना, सामाजिक प्रगति और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को समझा जा सकता है। "नागरजी ने समाज के विभिन्न वर्गों की आर्थिक-सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति को चित्रित करते हुए उनके समुचित विकास के लिए व्यक्ति और समाज के संतुलन को रेखांकित किया है। कथाकार के रूप में उनका यह प्रयत्न मानववाद से प्रभावित है।"[२] उन्होंने अपने उपन्यास में ग्रामीण-समाज की समस्याओं के विभिन्न रूपों को उजागर किया है। नागरजी मानवीय-सभ्यता के इतिहास और समकालीन-जीवन के इतिहास को समझने के लिए बार-बार अपने चौक लौटते हैं। एक लेखक का डेमोग्राफिकल या स्थानीयता में जाना रचनात्मकता की एक अनिवार्य प्रक्रिया भी है। सृजनकर्ता को बार-बार उस 'लोकेशन' में आना पड़ता है, जो उसका 'अपना' होता है।

संभवतः प्रेमचन्द इसीलिए बनारस अथवा फणीश्वरनाथ रेणु पूर्णिया या चार्ल्सडिकेंस बार-बार लंदन लौटते हैं। इसी प्रकार नागरजी का कलाकार-हृदय खुली हवा चाहता था। अतः एक अस्थाई पड़ाव के बाद वे पुनः अपने लक्ष्य-स्थल लखनऊ लौट आए। १४ अगस्त, १९४७ को आजादी की पहली रात कविवर श्री नरेन्द्र शर्मा के साथ मुम्बई की सड़कों में नया जोश निहारते हुए अमृतलाल नागर ने यह तय किया कि अब बालू पर लकीरें नहीं बनायेंगे। गांधीवादी-आदर्श में चलती दुकान बढ़ा दी और ३ अक्टूबर, १९४७ को फिर लखनऊ आकर जम गये।"[३] इतना ही नहीं, औपनिवेशिक भारत में लखनऊ शहर एवं ग्रामीण-प्रतिरोध और संघर्ष एक नए रूप में दिखलाई पड़ता है।

इस तृतीय अध्याय 'अमृतलाल नागर के कथा-साहित्य में प्रतिबिम्बित लखनऊ का जन-जीवन' में अमृतलाल नागर के कथा-लेखन में लखनऊ के सामाजिक जन-जीवन, लखनऊ के सांस्कृतिक जन-जीवन एवं लखनऊ के चौक के नगरीय जन-जीवन को लिया गया है।

१.१ अमृतलाल नागर के कथा साहित्य में लखनऊ का सामाजिक-जीवन

अमृतलाल नागर ने अपने उपन्यासों में अपने देखे-जाने और बचपन से जिए हुए लखनऊ के समाज का बहुत ही जीवन्त और मार्मिक वर्णन किया है। उन्होंने लखनऊ के निर्माण और विकास की चर्चा करते हुए इस बात की ओर संकेत किया है- "लखनऊ वह केन्द्र था, जहाँ पर विभिन्न जनपदों के लोग व्यापार के लालच से एक जगह पर आकर इकट्ठा होते हैं तथा उनके विभिन्न सांस्कृतिक विशेषताओं को लेकर नगर की सामाजिक मर्यादा बनती है।"[4]

अमृतलाल नागर के उपन्यासों में समाज के लगभग सभी वर्गों को समुचित स्थान मिला है। इन वर्गों के उच्चवर्ग के साथ ही मध्य-वर्ग की अभिव्यक्ति नागरजी ने बड़ी कुशलता से की है। इस वर्ग के लोग अधिकांशतः निर्धन वर्ग से मात्र सामान्य सहानुभूति ही रखते तथा अपने व्यापारिक स्वार्थों की पूर्ति में लगे रहते। इसके साथ ही नागरजी ने उच्च वर्ग द्वारा निम्न वर्ग पर किए जा रहे शोषण का चित्रण किया है।[5]

नागरजी के विभिन्न उपन्यासों में वर्णित उच्च-वर्गीय समाज में जमींदार और व्यापारी लोग अपने हित साधकर और अमीर होते चले जाते हैं। तथा निर्धन-वर्ग और निर्धनता की ओर बढ़ता दिखाई देता है। उच्च वर्ग अपने धन बल के सहयोग से कानून तथा पुलिस को भी अपने साथ मिला लेता है। ये लोग यदि निर्धन की आर्थिक सहायता करते हैं तो उनका मकान गहने आदि को गिरवी रख लेते हैं।[6]

लखनऊ के समाज में व्यक्ति भिन्न-भिन्न जाति और धर्म के होते थे, जिनके अपने कुछ सामाजिक-व्यवहार भी होते थे। ये सामाजिक व्यवहार ही जातीय व धार्मिक लोगों के विशिष्टताओं को रेखांकित करते हैं।

(१) वर्ण व्यवस्था (२) पारिवारिक ढाँचा (३) व्रत-त्योहार एवं परम्परा

लखनऊ समाज का स्वरुप व स्थिति

लखनऊ के वर्तमान समय में कुछ सामाजिक समस्याओं में सुधार अवश्य हुआ है लेकिन स्वार्थपरता की वर्तमान राजनीति ने अनेक नवीन समस्याओं को जन्म दिया है। हम यहाँ अमृतलाल नागर के कथा साहित्य में वर्णित विभिन्न स्थितियों की चर्चा करेंगे।

सामाजिक विभाजन

सामाजिक विषमताओं को वर्णित करते समय अमृतलाल नागर ने उच्चतर मानवीय मूल्यों तथा आदर्शों की स्थापना की है। इन्होंने अपने उपन्यासों में मानवतावाद को युगीन प्रगतिशील संदर्भों में विश्लेषित किया है। इसलिए इन्हें 'क्रांतिकारी मानवतावादी' के रूप में जाना जाता है। उनके उपन्यासों में प्रायः समाज के सभी वर्गो का वर्णन हुआ है। इनके उपन्यासों में हम समाज को पांच भागों में विभाजित कर सकते है।

नगरीय समाज

मध्यवर्गीय समाज

वंचित एवं दलित समाज

ग्रामीण समाज

उच्चवर्गीय समाज

अन्धविश्वास, रूढ़ियाँ एवं कुरीतियाँ

लखनऊ समाज भी अंधविश्वासों, रूढ़ियों एवं कुरीतियों से भरा रहा है। इनकी जड़े समाज में इतनी गहराई तक रही हैं कि उनका निवारण करना कठिन जान पड़ता है। अमृतलाल नागर के उपन्यासों में अन्धविश्वास, रूढ़ियों एवं कुरीतियों का कई स्थानों पर विद्यमान मिलती हैं, उनके उपन्यास 'बूँद और समुद्र' में लेखक ने ताई और नंदो का वर्णन अन्धविश्वास के प्रतीक के रूप में दिया है। लखनऊ का सम्य समाज अंधविश्वासों से इतना जकड़ा हुआ है कि वह अपनी बुद्धि और तार्किकता को खो देता है।

अमृतलाल नागर ने अपने उपन्यास 'बूँद और समुद्र' में दिखलाया है कि ताई अपने सौत के पोते को मारने के लिए आटे का पुतला बनाकर जादू-टोना करती है। ताई के पति रायबहादुर भी इस पर विश्वास कर लेते हैं और न चाहते हुए भी अपने पोते की रक्षा के लिए ताई के पास जाकर प्रार्थना करते हैं जैसे- "आटे का पुतला ताई की अमानुषी प्राण लेने की प्रवृत्ति के शक्ति का प्रतीक बनकर मंत्रियों, गवर्नरों, हकीम-हुक्काम और अमीरों के सम्मान पाने वाले जी हुजूरों की सिर आँखों पर बैठने वाले व्यक्ति को गिड़गिड़ा कर भीख मांगने के लिए मजबूर कर रहा

था।"[7] स्पष्ट है इस समाज में अंधविश्वास की जड़ें इतनी ज्यादा फैली हुई है कि कभी-कभी व्यक्ति अपनी रक्षा के लिए इन जादू टोनो का सहारा लेता है।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम इसे निम्न भागों में विभाजित कर सकते हैं-

(१.) नवाबों के समय में लखनऊ का सामाजिक जन-जीवन

(२.) मध्यवर्ग के जागरण के पश्चात राष्ट्रीयता का विकास

(३.) स्वदेशी आंदोलन से स्वतंत्रता काल तक की स्थिति

(४.) स्वतंत्रता के पश्चात का लखनऊ का सामाजिक जन-जीवन

(१.) नवाबों के समय में लखनऊ का सामाजिक-जीवन

लखनऊ में नवाबी शासन की नींव १७३२ ई. में आसफुद्दौला ने डाली। आसफुद्दौला के शासनकाल में लखनऊ के सामाजिक जीवन में व्यापक बदलाव आया क्योंकि; शासन व्यवस्था में अंग्रेजों की घुसपैठ थी और नवाब अंग्रेजों के इशारे पर कार्य करता था और विलासिता-पूर्ण जीवन को ही अपना लक्ष्य बना रखा था। इसका प्रभाव व्यापक रूप से लखनऊ के जनमानस पर पड़ा। लखनऊ की जनता भी धीरे-धीरे विलासिता के रंग में रंगने लगी। बाद में ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के शासन काल में यहाँ का समाज स्पष्ट: दो वर्गों में विभक्त हो गया। एक तो शासक वर्ग था, जो या तो जमीदार था अथवा प्रशासन का कोई बड़ा अधिकारी। दूसरा वर्ग शासित वर्ग था, जिसमें छोटे-मोटे व्यापारी खेतिहर, मजदूर या गाँवों में किसान थे। कालांतर में प्रशासन में अंग्रेजों का हस्तक्षेप बढ़ता गया और नवाबों का प्रभाव सीमित हो गया और सत्ता से जुड़े लोगों ने लखनऊ की जनता का भरपूर शोषण किया। इन लोगों के विद्रोह करने पर, विद्रोह को भी कुचल दिया जाता था। 'शतरंज के मोहरे' में नागरजी ने इन्हीं वर्गों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को चित्रित करते हुए पतनशील नवाबी-शासन पर तीखा व्यंग किया है।

'शतरंज के मोहरे' उपन्यास में अमृतलाल नागर ने लखनऊ के दो नवाबों का जिक्र किया है - "एक नसीरुद्दीन हैदर एवं दूसरा गाजीउद्दीन हैदर। इनके सामाजिक जिंदगी का पूरे वातावरण का विस्तृत चित्रण है। लखनऊ पर गाजीउद्दीन हैदर ने १८१४ ई. से लेकर १८३७ ई. तक शासन किया। परन्तु गाजीउद्दीन हैदर का वजीर आगामीर उसकी सत्ता का प्रमुख सूत्रधार था। जो

अंग्रेजों के खड़यन्त्र का एक हिस्सा था। गाजीउद्दीन हैदर एकदम बेबस और लाचार शासक था। उसकी बेगम एक अहंकारिणी महिला थी तथा अपने आगे वह उनकी एक भी चलने नहीं देती थी।"[8] "अपनी पत्नी के आगे वे खुलकर बात तक करने की हिम्मत भी नहीं रखते थे, उन्हें उसके गुस्से से डर लगता था।"[9] इस तरह गाजीउद्दीन हैदर अपनी पत्नी और वजीर आगामीर से परेशान होकर विलासिता का जीवन जीने लगे। उनकी जिंदगी का महत्वपूर्ण हिस्सा शराब और लड़कियाँ बन गई। अमृतलाल नागर ने लिखा है- "सुलखिया शिराजी जाम भर लाई और बा-अदब वा-सलीका जाम हुजूरे आलम के होठों से लगा दिया। आलम पनाह मानो इस वक्त, इसी के इंतजार में बैठे थे। जाम उनके होठों से लगा और उनकी बाँहें सुलखिया के गले में जा पड़ी, दूसरे क्षण सुलखिया बादशाह की बगलगीर सेज पर बैठी थी। जहाँपनाह ने उसको अपने सीने से चिपका रखा था। दो बादियाँ ख्वाबगाह में आ गई। पंखेवाली ने अपना काम दूसरी को सौंपकर सागर संभाला चौथी बांदी, पेचवान की मुँहलाल हुजूरे आलम के होठों के करीब ले आई। बादशाह सलामत का बाँया हाथ सुलखिया के गालों और बालों से धीरे-धीरे खेल रहा था।"[10]

इस तरह की विलासिता उस समय लखनऊ के नवाबों के सामाजिक जीवन का सामान्य अंग थी, जो उनको विरासत में प्राप्त हुई थी। बादशाह बेगम ने गाजीउद्दीन हैदर के पुत्र नसीरुद्दीन हैदर को वश में रखने के लिए प्रारंभ से ही बेहद खूबसूरत स्त्रियों के मध्य रखा। उनके मध्य रहकर नसीरुद्दीन का बचपन जवान हुआ। लखनऊ की गद्दी पर बैठने से पहले उसका अधिकांश वक्त उन्ही स्त्रियों के साथ बीता था। इसीलिए उसकी बातचीत का विषय शासन-व्यवस्था या जनता का दुख-दर्द नहीं बल्कि यह होता था कि 'नसों में शराब बेहतर है या अफीम'[11] इस तरह नसीरुद्दीन हैदर का अधिकांश समय सुंदर स्त्रियों से घंटों बात करने में बीतता था और उस बात की तह में जाने के लिए किसी अफीमची या शराबी बुलवा लाते, उसे हर प्रकार से परेशान करते और देखते कि उसका नशा उतरता है या नहीं। 'अली असगर बीच-बीच में बड़बड़ाता तो था लेकिन उसकी आँखें नहीं खुल रही थी। अनवरी ने रेशम की डोरियों से उसके दोनों हाथ कुर्सी के हात्थों पर ढीले-ढीले बाँध दिए। फिर उसकी दाढ़ी में डोरियाँ बाँध-बाँधकर उधर कुर्सी के हत्थे से भी बाँध दिया। तश्तरी में एक दर्जन छोटी मोमबत्तियाँ जलाकर अनवरी ने उन्हें कुर्सी के नीचे रख दिया। गर्मी से तपने पर अली असगर बार-बार उचकता तो उसकी दाढ़ी के बाल नुचते। हर बार जब अली असगर कराहता तो कमरे में कहकहा लग जाता

था।'[12]

नवाबों की विलासिता-पूर्ण जिंदगी का दूसरा पक्ष यह था कि उसमें उनकी बर्बरता का शिकार वहाँ की आम जनता होती थी। महल में रहने वाले दास-दासियाँ भी इसका शिकार होती थी। इस विलासिता-पूर्ण जिंदगी का लखनऊ पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। नवाबों के संगत में रहने के कारण दास-दासियाँ उनकी विलासिता पूर्ण जिंदगी की पूरक बन गयी थी। नवाब लोग सुंदर स्त्रियों के साहचर्य में रहने के कारण नपुंसक हो गए थे। फलस्वरूप वहाँ के कई भावी शासक या तो दासियों के पुत्र थे अथवा अनैतिक सम्बन्धों से जन्मे अवैध बच्चे।

इस उपन्यास में अमृतलाल नागर ने १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के लखनऊ के राजनीतिक जन-जीवन को अपनी मुख्य कथा का विषय बनाया है। सन १८५७ में स्वतंत्रता संग्राम के लगभग तीन दशक पूर्व, जबकि लखनऊ की नवाबी हालत अस्त-व्यस्त थी- लखनऊ के नवाब के अधीनस्थ अन्य छोटे-छोटे नवाब और जमींदार अपने को संकटग्रस्त और असुरक्षित पा रहे थे। उस समय अवध की जनता का जन-जीवन भी असुरक्षित, कठोर और अशांतिपूर्ण हो गया था। पूरे अवध में चोरी, डकैती, छिनैती और बटमारी सामान्य बात हो गई थी। शासन-व्यवस्था के ढीलेपन और राजकर्मचारियों के लूट-घसोट के कारण नवाबों की आर्थिक हालत भी कमजोर होती जा रही थी तथा उनका शाही दबदबा भी बहुत कम होने लगा था। नसीरुद्दीन हैदर के बारे में यह अफवाह थी कि उनकी माता दासी थी, जिसे बादशाह बेगम ने जिंदा दीवार में चुनवा दिया था।[13] वहाँ के लिए यह पहली घटना नहीं थी। नवाब आसफुद्दौला ने खुद अपनी ही जबान से वजीर अली को खानसामा का बेटा बतलाया।[14] उसका सबसे बड़ा कारण वहाँ की शाही जिंदगी में अविश्वास का माहौल होना था। खासकर सत्ता में अंग्रेजों के सीधे हस्तक्षेप के कारण उनकी यह मजबूरी भी थी कि कोई भी बड़ा निर्णय उनकी सहमति से करें। उनकी इच्छा थी कि सल्तनत का काम वे खुद देखें। परन्तु वे यह भी जानते थे कि रेजिडेंट सारी गड़बड़ियाँ उनके सर पर डाल देगा, अंग्रेजों के इशारे पर चलने वाले वजीर, मंत्री उनके अच्छे कार्यों में हजार रुकावटें डालेंगे।[15]

उन्हें यह भी पता था कि- "आगामीर की कोठी का मुकाबला शहर भर में किसी भी रईस की कोठी से नहीं किया जा सकता। एक बार उनके जासूस ने भी खबर दी थी कि अगामीर की सवारी शान-शौकत में शाही सवारी से टक्कर लेती है।[16] वहाँ के नवाब चाह कर भी शासन

व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार को मिटा नहीं सकते थे क्योंकि; उन्हें डर था कि अंग्रेज जिसे वह दे रहे हैं, वह मेरी हुक्मउदूली भी कर सकता है।[17] अपनी इस दयनीय-स्थिति का बादशाह गाजीउद्दीन हैदर को अहसास था, लेकिन वह बेबस और लाचार थे उनकी यह दयनीयता बेबसी और लाचारी के दर्द भरे इस आत्म-संघर्ष पर आकर समाप्त हो जाती थी- "गोमती पार दूर के दीए से टकटकी लगाए बादशाह अपने दर्द की उलझनों में उसी तरह चक्कर काटकर चेतना के उस बिंदु पर पहुँचने के लिए संघर्ष कर रहे थे, जहाँ बिंदु-शून्य-अपने आप में पीड़ा को लेकर एक नई गति पाता है। गति दोनों ही दिशाओं में होती है या भँवर से छूटकर दर्द में डूब ही जाता है या अंतर की उछाल से चेतना का स्पर्श मिलता है।"[18]

परन्तु गाजीउद्दीन हैदर बादशाह को अपने संपूर्ण जिंदगी में इस चेतना का स्पर्श नहीं मिल पाया। साजिश के गलियारे में भटकती लखनऊ की राजनीति ने उन्हें और उनके पुत्र तथा भावी शासक नसीरुद्दीन हैदर को कभी भी चैन से जीने नहीं दिया। १८२७ ई. में नसीरुद्दीन हैदर अवध की राजगद्दी पर बैठा। विरासत के रूप में उन्हें भी विलासिता पूर्ण जीवन मिला था, जिसका उन्होंने खुलकर उपभोग किया। प्रजा और सत्ता से दूर रहकर आजीवन वे एक सच्चे साथी की तलाश में भटकते रहे। कभी दुलारी जैसी स्त्रियों का सहारा लिया तो कभी कुदसिया बेगम की याद में तड़पते रहे। 'नसीरुद्दीन बच्चा था उसे दुलार और झिड़की, दोनों की ही हरदम बड़ी आवश्यकता थी।'[19]

नवाबों के शासनकाल में लखनऊ के शासक वर्ग में वजीर आगामीर और हकीम मेंहदी का महत्वपूर्ण स्थान था। दोनों की सामाजिक-छवि, चतुर, धूर्त और स्वार्थी-व्यक्ति के रूप में थी, जिसने लखनऊ के महलों की जिंदगी को अंग्रेजी सत्ता का केंद्र बना दिया। दोनों ने लखनऊ की आम जनता का शोषण कर नवाबों के लिए विलासिता की सामग्री इकट्ठा की। अंग्रेजों की राज्य में हस्तक्षेप की नीति को बढ़ावा दिया। अगामीर ने तो जानबूझकर बादशाह गाजीउद्दीन हैदर और बादशाह बेगम के बीच अलगाव की जमीन तैयार की। इसमें बादशाह बेगम का भी कम हाथ नहीं था। उन्होंने सत्ता की दौड़ में अपना पलड़ा भारी रखने की कोशिश की। 'अपनी सत्ता के सपने देखते हुए उन्होंने नसीरुद्दीन को बरबादी की राह पर बढ़ावा दिया। वह बाहरी लोगों से मिल नहीं पाए, पिता और आगामीर के कहे में न चला जाए, इसलिए उसकी जवानी के होश संभालते ही उन्होंने उसे अपनी खूबसूरत बांदियों के हुजूम में छोड़ दिया, हुस्न और सिंगार की तिलस्म में उसे कैद कर लिया।'[20] युवराज को पूरी तरह अपने अधिकार में रखकर' अपनी

महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए 'अपने पति और कुचक्री शक्तिशाली वजीर आगामीर से मोर्चा लिया।[21] उन्हें अपने ज्योतिषज्ञान पर गर्व भी था। लेकिन शीघ्र ही उनका मोहभंग हुआ तथा उस समय उनके इस ज्ञान को करारा धक्का लगा, जब शासकीय आज्ञा से उनके महल पर वजीर आगामीर ने आक्रमण करवाया, राजकीय अवज्ञा के लिए उनके महल का खर्च रोक दिया गया तथा युवराज नसीरुद्दीन हैदर उनका पल्ला छोड़कर बादशाह के खेमे में चला गया- "मैं हारी-पति के स्वामी आगामीर से, अंग्रेजों से, दाई खवासों और खवास की औलाद से कुलीन सैयद ज्योतिषाचार्य की स्वयंनिस्ठ और पंडित लाडली बेटी अपनी मध्यवय में नन्हीं मानिनी की तरह फूल बैठी। बड़े गोरे सहज दर्पयुक्त मुखमंडल पर तमतमाहट और आँसू, बादल-बिजली की तरह छोड़ रहे थे।"[22]

वस्तुतः शासक वर्ग और जनता में बादशाह बेगम की छवि एक ऐसी महिला के रूप में थी, जिसमें आस्था विश्वास और दृढ़ता के साथ आने वाली हर परिस्थिति का मुकाबला किया। उनका समय सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों में अधिक बीता। वे स्वयं दूध की धुली, बेदाग नियम-संयम से शुद्ध महिला थीं। वे आस-पास कोई गंदगी नहीं रखती थी। वे अपने पतीत्व में भी कोई बुराई नहीं बर्दाश्त कर सकती थी।[23]

लखनऊ के महलों की विलासिता-पूर्ण जिंदगी और षड़यंत्रों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रभाव वहाँ पर रहने वाली दास-दासियों पर था। उनका अपना कोई स्वतंत्र सामाजिक जीवन नहीं था। वे या तो नवाबों के लिए विलासिता की सामग्री थी अथवा उन अधिकारियों के शतरंज का एक मोहरा थी, जो सत्ता के गलियारे में राजनीतिक षड्यंत्र करते थे। वहाँ की दास-दासियाँ चाहकर भी उस कुत्सित-समाज में से अपने-आपको मुक्त नहीं कर पाती थीं। इसका सबसे बड़ा कारण उस समय सर्वाधिक प्रचलित दास-प्रथा थी। इनको भरे बाजार में बेचा और खरीदा जाता था। लोग उनके साथ गलत और मनमाने ढंग से व्यवहार करते थे। और दासियाँ भी इस सबको नियति का अंग मानकर स्वीकार कर लेती थी।

इस तरह नवाबी काल में लखनऊ का सामाजिक जन-जीवन बहुत ही दयनीय स्थिति में था। वहाँ की आम जनता से लेकर महलों की दास-दासियों तक का सामाजिक जन-जीवन नर्क के समान था। वहाँ जनता के साथ-साथ महलों में रहने वाली दास-दासियों के कई प्रकार की यातनाएँ दी जाती थी। 'नसीरुद्दीन ने पानी पीकर लाने वाली बाँदी के अधमुँहे मुखड़े पर पड़ी

रेशमी नकाब पर कटोरे का बचा-खुचा पानी उछाल दिया।'[24] नसीरुद्दीन इतना करने के बाद भी अपने अहं, हवस और जिद की पूर्ति के लिए अपनी इच्छा के खिलाफ जाने पर कई दास-दासियों को यातना देकर मरवा डाला। "दोनों वादियाँ गिरफ्तार होकर आयी....शाही इशारा हुआ। दोनों वादियों के सब कपड़े उतारकर विलायती हंटर की मार शुरू हुई।"[25]

"सामंती शासन में बंदी स्त्रियों और पुरुषों के मर्म स्थानों में लाल मिर्च भरना अथवा यदि चरम दंड देना हो तो मेख ठोकना खास सजाओं में से एक था। दंड स्वरूप स्त्रियों एवं नवयुवक पुरुषों पर सामूहिक बलात्कार करवाना भी आम चलन में शामिल था।[26] 'शतरंज के मोहरे' में अमृतलाल नागर ने दिखलाया है कि कैसे दास-दासियाँ नवाबों की विलासिता पूर्ण बर्बरता का शिकार होकर जीवन से मुक्ति पाती थी। नारी का यह शोषण एक-दूसरे तरीके से भी होता था। कभी-कभी नवाब इन दास-दासियों पर खुश करके उनकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था करता था। और इन दासियों को नृत्य कला और संगीत में निपुण करता था। और उनका उपभोग करता था। 'शतरंज के मोहरे' उपन्यास में धनिया, सुखपाल, सुलखिया, बिस्मिल्लाह बानु, दुलारी आदि कई दास-दासियों एवं बांदियों के जीवन की विस्तार पूर्वक चर्चा करते हुए नागर जी ने बतलाया है कि नवाब इन दासियों एवं बाँदियों पर मुग्ध होकर कभी-कभी विशेष पद या ओहदा भी प्रदान करता था। नसीरुद्दीन हैदर ने तो बादशाह बनने के बाद अपनी सेवा में नियुक्त दुलारी नामक एक दासी की अदाओं पर मुग्ध होकर उसे 'मलका-ए-जमानिया' का खिताब दे दिया तथा अपनी बेगमों में शामिल कर लिया।[27] इसी प्रकार उन्होंने विस्मिल्लाह बानू नामक एक बाँदी पर मुग्ध होकर उसे अपनी प्रधान बेगमों में शामिल कर लिया, जो 'कुदसिया बेगम' के नाम से मशहूर हुई।[28] उसने बाद में नसीरुद्दीन हैदर के प्रति अपना विश्वास जताते हुए विष खाकर प्राण त्याग दिया, "मैं तुम्हारी थी, तुम्हारी रही, तुम्हारी होकर ही जा रही हूँ। मरते वक्त खुदा की गवाही में मैं तुम्हें यकीन दिलाती हूँ कि मेरे हमल में मेरे साथ जो एक और नन्हीं-सी जान थी, दुनिया देखे बिना ही दुनिया से जा रही है; तुम्हारी ही औलाद है, मैं बड़ी साध से तुम्हारे बच्चे की माँ बन रही थी। तुमने मेरा ख्वाब चूर-चूर कर दिया, तुमने अपना मुकद्दर मिटा डाला।[29]

कुदसिया बेगम की मौत ने नसीरुद्दीन हैदर को विक्षिप्त-सा कर दिया। वह बावला होकर सड़कों पर भागने लगा।[30] बाद में उसने कुदसिया बेगम की याद में एक शानदार मकबरा बनवाया। लेकिन दास-दासियों के साथ ऐसा बहुत कम होता था। अधिकांश में उनकी स्थिति

वास्तव में बहुत भयानक थी। जहाँ जिसको मौका मिलता, वह इनका हर तरह से शोषण करता। इस शोषण में अंग्रेज भी हिस्सेदार थे। गज्जू बसोर की तेरह वर्षीय पुत्री मुलनी, अंग्रेज़ अधिकारी स्मिथ की बलात्कार का शिकार होकर जाति-बिरादरी से निकाल दी जाती है।[31] जातीय पंचायत में जकड़ा तत्कालीन समाज कितना क्रूर था, इसका अंदाजा 'शतरंज के मोहरे' की निम्नलिखित पंक्तियों से लगता है-

"बसोर भी अपनी मरजाद नहीं छोड़ सकते थे। गज्जू जब तक अपनी बिरादरी को भोजन न दे, तब तक उसकी लड़की को समाज में स्थान नहीं मिल सकता। विवश गज्जू अपनी लड़की को त्यागकर चला गया।[32] नारी की इस विषम स्थिति के पीछे तत्कालीन परिस्थितियाँ कम उत्तरदायी नहीं थी। अव्यवस्थित समाज में यदि नारी जीवित रह जाए तो यही बहुत बड़ी बात थी।

चारो तरफ लूट-घसोट, खून-खराबा, छीना-झपटी, के बीच तत्कालीन लखनवी समाज एक भयानक दौर से गुजर रहा था। एक ओर नवाबों की विलासिता पूर्ण जिंदगी थी तो दूसरी ओर शोषण और उत्पीड़न के दौर से गुजरता हुआ लखनऊ का समाज था, जहाँ नारी का जन्म लेना भी अभिशाप माना जाता था। कभी-कभी तो बच्ची के जन्म लेते ही लोग उसका गला घोंट देते थे, "दाई ने बच्ची को मदार का दूध पिलाकर उसके मुख में गर्भ का मल भर दिया। जच्चा की खाट के पास ही गड्ढा खोदकर जैसे-तैसे शिशु का शव तोप दिया।[33] इस तरह की घटनाएँ लखनऊ के शहर में ही नहीं बल्कि; लखनऊ के ग्रामीण इलाके में भी घटती रहती थी। "इतना ही नहीं, जब कोई जमीदार किसी दूसरे जमीदार की स्त्री को लूटता तो चार दिन उपभोग करता था, फिर उसके सहायक उस पर अत्याचार करते थे।"[34] घर से निकाली जाकर स्त्री हाथों-हाथ वेश्या बन जाती है। फिर समाज में और कहीं स्थान न था। लखनऊ में नवाबों, रईसों के ऐशो-आराम के लिए औरतों की माँग अधिक थी। खूबसूरत लड़कियों और चढ़ती उम्र कि औरतों की अस्मत लूटकर, उन्हें बाकायदा मशहूर कुटनियों के हाथ बेच दिया जाता था।[35] इस काम में कई लोग सक्रिय थे, जिनमें कंजरों का आतंक सर्वाधिक था।[36] वे खाते-पीते घरों की लड़कियों को उड़ाकर दलालों के हाथ बेच देते थे, जो उन्हें या तो तवायफों के कोठे पर पहुँचा देते अथवा रईसों-अमीरों के यहाँ बाँदियों के तौर पर बेच देते थे।[37] कुटनियों के यहाँ बिकी हुई छोटी खूबसूरत लड़कियों को नाच गाने कि शिक्षा दी जाती थी और फिर उन्हें गायन और नृत्य कला में निपुण कर रईसों, अमीरों, अमलों, शाह और शहजादों के हरमों में बेच दिया जाता था।[38]

उस समय का तत्कालीन लखनऊ-समाज में वेश्याओं के उदय का भी यह महत्वपूर्ण कारण था। लखनऊ-समाज में कई प्रकार की वेश्याएँ थी। एक तो शारीरिक-व्यापार करती थीं। दूसरी नाच गाने का काम करती थीं। इन्हें लोग तत्कालीन लखनऊ-समाज में तवायफ कहकर बुलाते थे। लखनऊ समाज में इनकी एक इज़्ज़त थी। इनका रहन-सहन भी सभ्य लोगों की तरह था। किस प्रकार उठा जाए, कैसे बैठा जाए, किस प्रकार मेहमानों का स्वागत किया जाए आदि तहजीब और तमद्दुन, इनकी हर अदा में झलकते थे। बड़े-बड़े रईस और नवाब इनका गाना सुनने आते थे। प्रसिद्ध तवायफों का नवाब के महल से भी बुलावा आता था। "अच्छी खानम भी अपनी नौजवानी में नवाब सआदत अली खाँ के दरबार की नाचने वालियों में एक थी। इन नाचने वालियों को सत्रह-अठारह वर्ष की होते ही शाही महल की नौकरी से हटा दिया जाता था।"[39] उसके बाद ढलती उम्र में ये वेश्याएँ अपने सुखद भविष्य के लिए छोटी-छोटी उम्र की खूबसूरत लड़कियाँ खरीदती, चुन-चुनकर माल का मोल करतीं- 'देह नाज़ुक गुलबदन हो, आँखें बड़ी-बड़ी मछली सी, पुतलियाँ काली हो, दाँत मोती की लड़ी हो, नाक फैली या पसरी न हो, गरदन सुराहीदार हो तो क्या कहना! मुस्कराते हुए गालों में भँवर पड़ जाए, आशिक दिल उसमें फँस जाए- ये सब खूबियाँ निहारी जाती। फिर उन्हें अच्छे उस्तादों के सुपुर्द कर दिया जाता था।[40] वहाँ ये नाच गाने के साथ ही अदब-कायदें सीखती थी। किस तरह खड़ी हो, किस तरह बैठे, किस तरह आशिक का स्वागत करें, उनसे किस वक्त उसका कैसा व्यवहार हो- इन तमाम बातों के लिए उन्हें तैयार किया जाता था। इतना ही नहीं "उन्हें इल्मों-अदब सिखाया जाता, उर्दू-फारसी की अच्छी तालीम दी जाती, शायरों की सोहबत कराई जाती और दस-ग्यारह बरस की उम्र होते ही उन्हें महफिलों में उतारा जाने लगता।"[41] इनके रूप सौन्दर्य के प्रचारक पानवाले, शराबखाने वाले, जौहरी, बजाज, हकीम और शायर जैसे लोग थे। तवायफें, जिन्हें ये बड़ी अम्माएँ कहती थीं, इन्हीं के सहारे जीती थी और ये उनके सहारे। सबके साथी-संगी, सधे-बँधे थे।[42] इन तवायफों के लड़के-लड़कियाँ भी होते थे, जिनमें लड़कियाँ तो पेशा करती थीं, लड़के सारंगिये-सफरदा बनते थे।

'शतरंज के मोहरे' में नागर जी ने अच्छी खानम के चरित्र का चित्रण करते हुए स्पष्टतः दिखलाया है कि वह बिस्मिल्ला बानू को अपने बुढ़ापे के लिए तैयार करती है।[43] बिस्मिल्ला बानू होशियार निकलती है तथा नवाब नसीरुद्दीन हैदर की नजर में आकर ऐतिहासिक महत्व प्राप्त करती है। लखनऊ की इन तवायफों में कुछ ऐसी भी थीं, जो किसी नवाब या रईस को अपने

इल्मों-अदब से आकर्षित कर लेती थी तथा उन्हीं के सहारे अपना सारा जीवन व्यतीत कर देती थीं।[44] नवाब या रईस भी इन्हें अपनी पत्नी से कम दर्जा नहीं देते थे। इनके लिए वे सब तरह की सुविधाएं इकट्ठी करते, साथ समय बिताते तथा पुत्र होने पर उसका पालन-पोषण, पढ़ाई-लिखाई आदि का खर्च वहन करते थे। उन तवायफों के बीच आपसी दाँव-पेंच भी खूब चलता था, जिसके केन्द्र में ये रईस या नवाब ही थे। ये हमेशा एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिए मौका ढूंढती रहती थी। एक बार रेजीडेंसी जाने के बाद विस्मिल्ला के दुस्मनो ने भी यह खबर उड़ा दी कि वह कोरी न रहीं।[45]

वस्तुतः तत्कालीन लखनऊ-समाज में नारी-उपभोक्तावाद अपने चरमोत्कर्ष पर था। लखनऊ में सामंती समाज के लोगों ने ऐसी स्थितियाँ पैदा कर दी थीं कि यहाँ की वेश्याएँ अपने भविष्य को लेकर चिंतित रहने लगी थी। बिस्मिल्लाह बानू का कोरा न रहना, उसे और उसकी माँ के लिए, सामंती-समाज से सीधे काट देने जैसा था। फलस्वरुप उनके आर्थिक-स्रोत का एक पक्ष समाप्त हो जाने का डर था। सामंती-समाज में जो तवायफें कोरी हो, उन्हीं का वर्चस्व था। अपने आर्थिक सुरक्षा के लिए कई तवायफें किसी नवाब या रईस का आश्रय ले लेती थी। मिर्जा हादी रुस्वा ने अपने उपन्यास 'उमराव जान अदा' में इसी प्रकार के लखनवी सामंती समाज में एक वेश्या की वास्तविक स्थिति का चित्रण किया है। उमराव किस प्रकार वेश्या बनती है तथा लखनऊ के सामंती समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करती है, उपन्यास में इसका यथार्थ चित्र है। यह उपन्यास केवल विषय की सामाजिक-जिंदगी का चित्र ही प्रस्तुत नहीं करता है बल्कि; लखनवी लोगों की सामाजिक-जिंदगी, नारी की वास्तविक स्थिति, उनकी बोलचाल और लोगों के प्रति संवेदनशीलता की ओर संकेत भी करता है।

लखनवी समाज में एक-दूसरा पक्ष गणिकाओं के जीवन का भी था। जिसकी तरफ नागरजी ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'शतरंज के मोहरे' में दिखलाया है। लखनऊ के समाज में उस समय सैकड़ों ऐसी भिखारिनें मौजूद थीं, जो या तो पूर्व में गणिकाएँ थी अथवा 'दूर-दूर के गाँवों में उजड़ी शाही सिपाहियों, डाकुओं के बलात्कार स्वरूप घर-बिरादरी से निकाली गई औरतें।[46] गणिकाएँ अपना जीवन-यापन करने के लिए भीख माँगने पर मजबूर थी। कई गणिकाओं की हालत बहुत ही दयनीय थी, जो बुढ़ापे में और दयनीय हो गई थी। वे कम उम्र की सुंदर लड़कियों को खरीदतीं और अपने संरक्षण में उनका पालन-पोषण करती थीं। जब वे लड़कियाँ बड़ी हो जाती तो किसी पुरुष के साथ भाग जातीं। अमृतलाल नागर ने अपनी कहानी 'शकीला की माँ'

की पात्र जमीलन के माध्यम से दिखलाया है कि रूप और सौंदर्य समाप्त हो जाने के बाद इन गणिकाओं की स्थिति कितनी बुरी और दयनीय हो जाती है। अपनी जवानी में 'जमीलन' रूपवती एवं अत्यंत खूबसूरत थी, अनेक चाहने वाले उसके आशिक थे, लेकिन वृद्धावस्था ने उससे, उसका सबकुछ छीन लिया। 'शकीला' जब घर से भाग जाती है तो जमीलन एकदम अकेली एवं असहाय हो जाती है। अतः उसको विवश होकर धंधे में उतरना पड़ता है, जहाँ उसकी परेशानी और दुर्गति देखते ही उसकी जिन्दगी है- "जमीलन की सारी चेष्टाएँ मुन्ना को अपनी ओर खींचने का प्रयत्न कर रही थीं। उत्साहित होकर वह अपनी एक-एक अदा से, बचपन से लेकर अब तक आजमाएँ हुए प्रयोगों से, उन्मत होकर मुन्ना को रिझाना चाहती थी। उस वक्त उसकी बाँकी अदा में कितना बाँकपन था, कितना मज़ा था, कितना....!

आखिर उससे न रहा गया। अपनी पूरी ताकत से जमीलन को ढकेलकर भागा-भागा....!

जमीलन दूर जा पड़ी। समूची शक्ति लगाकर उठना चाहा, पर उठ न सकी, वहीं ढह गई।[47]

नवाबों के समय लखनऊ के समीप किसानों एवं खेतिहर मजदूरों की हालत अत्यंत दयनीय थी। उस समय लखनऊ के जो जवान थे, किसानों और खेतिहर मजदूरों की सहायता नहीं करते थे बल्कि; उनका शोषण करते थे। जब भी नवाबों की शाही सेना किसी गाँव से होकर गुजरती तो गाँव के गाँव उजड़ या समाप्त हो जाते थे और खेतों में अधपकी फसल तबाह हो जाती थी। सारी फसल उनके घोड़े-हाथी चर जाते। जिस गाँव में नवाब अपने सैनिकों के साथ रूकते, वहाँ की जनता की जिंदगी तबाह हो जाती। उनके खेतों में फसल नष्ट होती ही थी, पर सैनिक जलाव के लिए उनके घास-फूस की झोपड़ी उठा ले जाते और स्त्रियों और बच्चों से कड़ी बेगारी करवाते। इतना ही नहीं- "कई निर्धन गृहलक्ष्मियों की अनमोल इज्जत को बेभाव कर देते थे।"[48] नवाबी दौर के लखनऊ के पास एक गाँव की ऐसी ही हालत का चित्रण करते हुए 'शतरंज के मोहरे' में अमृतलाल नागर ने लिखा है- "नाजिमी सेनाओं की आहट से गाँव की हवा तक को मानों साँप सूँघ गया....जिधर देखो, उधर ही गाँव वाले फौजवालों के पाँव पकड़कर हा-हा खा रहे थे....सिपाहीयों ने उनके घरों में घुसकर बाँस-बल्ली, धरन, हल, किवाड़ जो भी लकड़ी का सामान मिला, उसे....अधिकतर घर वालों से कटवा, उनके सिरों पर लदवाया और ले चले। बैलों के रखवाले किसानों के घरों का भूसा ढोने लगे, फूस के छप्पर तक न छोड़े। रुस्तम नगर के बाहरी भाग में आबाद तीस-चालीस घरों की बस्ती और उसमें बसने वाले छोटी जातियों के गरीब

लोग देखते-देखते ही अधमरे हो गए।"[49]

यह सेना सूबा-ए-अवध की राजधानी लखनऊ के बादशाह गाजीउद्दीन हैदर की थी, जिसकी जिम्मेदारी प्रजा की रक्षा करने की थी। बादशाह की सेना के लिए जरूरी था कि वह जमीदारों से लगान व कर वसूलें। परन्तु जो लगान एवं कर किसानों से वसूल किए जाते थे। उसका एक तिहाई भाग शाही खजाने में जाने से पूर्व ही मंत्रियों और वजीरों के बीच बँट जाता था। इसके परिणाम स्वरूप जनता पर और अधिक कर लगाया जाता था। इस भार से भोली-भाली ग्रामीण जनता बादशाह और कर वसूलने वालों के बीच पिसकर रह गईं। अवध प्रांत में अंग्रेजों के हस्तक्षेप से पहले वहाँ ग्राम-पंचायतें थी। उनका जमीन पर सामूहिक अधिकार होता था। समाज के लिए आवश्यक और उपयोगी पेशों वाले हर व्यक्ति को भी इस जमीन की उपज का भाग मिलता है। अवध प्रांत में अंग्रेजों ने जहाँ भी अधिकार किया, वहाँ इन पंचायतों की शक्ति को तोड़ दिया और सारी जमीन एक जमींदार को सौंप दी। जमींदार की ये जमीनें सौंपने के पहले, वे इसकी नीलामी करते थे। जो अधिक रकम की बोली बोलता था, उसे ही गाँव का मालिक बना दिया जाता था।[50] अवध की शासन व्यवस्था और लखनऊ की जनता पर इसका दूरगामी प्रभाव पड़ा। ज़मीन से उखड़े हुए ये सर्वहारा, भूमिधर-किसान, विद्रोही और लुटेरे होकर प्रजा में अशांति फैलाते फिरते थे। इन उखड़े हुए अनेक भूस्वामियों को ही अंग्रेजी कानून के अनुसार उत्तर प्रदेश की जरामय पेशा जातियाँ घोषित कर दिया गया था। स्वयं अंग्रेज लेखकों का कहना है कि अनेक बार उन्हें पशुओं की तरह खदेड़ दिया जाता था।[51]

इस विद्रोह का एक और बड़ा कारण था। 'लखनऊ का शासक-वर्ग जनता की वास्तविक हालत से परिचित नहीं था। लगभग सारे वजीर-मंत्री हर वक्त खजाने में दौलत की कमी को पूरा करने में जी-जान से लगे रहते थे।[52] इसके पीछे उनका एक दूसरा दृष्टिकोण था। वे जमीदारों को बढ़ाकर उनका राजनीतिक दल मजबूत करना चाहते थे। साथ ही लखनऊ 'शहर के विलासी अमीरों के लिए तुरंत धन इकट्ठा करना चाहते थे।'[53] फलत: लखनऊ के सामाजिक-जीवन पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। भोग-विलास में डूबकर लखनऊ का जीवन, लगभग सड़ने लगा।[54] महल के खड़यंत्र-पूर्ण माहौल का शासन पर तो बुरा असर पड़ा ही, वहाँ के आम जन-जीवन पर भी गहरा असर पड़ा। महल के राजनीतिक षड़यंत्रों में केवल शाही-परिवार ही शामिल नहीं था, बल्कि बड़े-बड़े अधिकारी, व्यापारी प्रतिष्ठित तवायफों से लेकर दास-दासियाँ तक शामिल थे। सत्ता के लोभी सामंतों और बड़े अधिकारियों ने रिश्वतें और तरह-तरह की लालच देकर लोगों के

नैतिक चरित्र का पतन कर दिया था। अन्य लोग भी इसके आदी हो गए थे। बिलासी नवाबों और सामंतों ने अपनी हवस की पूर्ति के लिए व्यभिचार को लगातार बढ़ावा दिया। उस समय लखनऊ में सुंदर स्त्रियों की माँग बढ़ गई थी। 'अमीरों के घर का यह आम चलन था कि वह एक या दो तवायफें या खूबसूरत लड़के, अपनी नौकरी में रखते थे। नीची मानी जाने वाली जातियों की स्त्रियों का उपभोग, सामंती लोगों की 'अलिखित विधान' का एक उचित हिस्सा बन गया था।[55] उस समय के लखनऊ की सामाजिक परिस्थितियों की चर्चा करते हुए अमृतलाल नागर ने लिखा है- "विलास में सामाजिक जीवन डूब कर सड़ रहा था एक तरह से सुंदरी नवयुवतियाँ उन दिनों अमीरों के फैशन में समा गई थीं। गाली बकना औसत से अधिक आम रिवाज बन गया था। जुआ, शराब और चंडू के अड्डे निठल्ली जनता ने बड़े आकर्षण के वस्तु थे। खानगी की रंडियों की दलालिनों का बड़ा मान था। बाजार कीमती सामानों से पटे पड़े थे, अमीरों की कोठियों और शाही महलों में ही उनकी खपत थी, इसलिए रिश्वत का बड़ा बोलबाला था। रिश्वत में रुपए, जवाहरात और खूबसूरत स्त्रियों की चारों तरफ माँग थी। कुटिनियाँ भले घरों से लड़कियाँ-औरतें उड़ा कर बेच देती थीं। इश्कबाजी जमाने की बड़ी मान्यता हो चली थी। ऐश और इशरत के लिए भारी-खर्च की जरूरत हुआ करती थी। इसलिए ठगी और लूटपाट का बोलबाला था। शाही आमिल-अमले, शहर के रईस, छोटे अमले के साथ आम तौर पर अपने सुख-विलास के लिए कुछ भी कर डालते थे। हिंदुओं में कुलीन ठाकुर और ब्राह्मण बहुपत्नीवादी थे। निर्धन, प्राकृतिक और अप्राकृतिक बलात्कार की ताक में रहते थे। अनेक निर्धन किन्तु; कुलीन घरों के युवक गुण्डे बन गए थे। पिता और गुरुजनों से बहुत से उच्छृंखल नौजवान, नाते की प्रतिष्ठा जोड़कर उद्दंड और अत्याचारी बन गए हैं।"[56]

स्पष्टत: उस समय के लखनऊ का सामाजिक जीवन और नैतिक स्तर पर गिर गया था। लोगों की सोचने-समझने की शक्ति लगभग समाप्त हो गई थी। बाहर की सारी गतिविधियों से अनभिज्ञ यह समाज एक तरह से मानव ठहर गया था, जहाँ नीति-अनीति, गुण-दोष, पाप-पुण्य सब बराबर थे।

वस्तुतः बादशाह गाजीउद्दीन हैदर और नसीरुद्दीन के शासनकाल में लखनऊ के समाज का कोई नैतिक चरित्र नहीं रह गया था। अपनी हवस और भूख की तृप्ति के लिए वह कुछ भी कर सकता था। जिस समाज में नारियाँ बेची जाती हों, शासकीय इच्छाओं की पूर्ति के लिए सुंदर और कुलीन युवतियाँ उड़ायी जाती हों।[57] पत्नी के रहते हुए परस्त्री को सर्वोच्च आसन

प्रदान किया जाता है- वह समाज गिरा हुआ नहीं तो और क्या है? जहाँ लोकाचार की सारी मर्यादाएँ अपना बंधन तोड़ चुकी हों, जीवन सोद्देश्य न होकर ऐश-आराम की दुनिया में भटक रहा हो, युवा पीढ़ी दिग्भ्रमित हो चुकी हो, नारी की अवमानना होती हो, आम लोगों की जिंदगी अमीरों और सामंतों की तीमारदारी में बीतती हो- यही वह लखनवी-समाज था, जिसको अमृतलाल नागर ने 'शतरंज के मोहरे' में बहुत बेबाकी से चित्रित किया है।

नसीरुद्दीन हैदर के निधन के बाद लखनऊ के सामाजिक-जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आया, परंतु शासकीय कार्यों में अंग्रेजों का हस्तक्षेप लगातार बढ़ता गया। वे शहर और ग्रामीण इलाकों में गड़बड़ियाँ फैलाकर सारा दोष नवाबों पर थोप देते थे। जनता के बीच यह दुष्प्रचार फैलाते कि नवाब शासन करने के योग्य नहीं है। उन्हें जनता की दयनीय हालत से कोई मतलब नहीं है। वे हमेशा ऐशो-आराम की जिंदगी में डूबे रहते हैं।[58] जबकि अंदुरूनी बात यह थी कि उन्होंने प्रशासन की सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेकर अंग्रेजों ने नवाबों के मन में लगातार यह बात डालते रहे कि 'शासन व्यवस्था, सैनिक सुधार आदि की ओर से बिलकुल निश्चिंत होकर व दूसरे क्रिया-कलापों में अपना दिल बहलाएँ।[59] इसका परिणाम वही हुआ जो अंग्रेज चाहते थे। ऐश-आराम की जिन्दगी में डूबकर लखनऊ के नवाबों ने अवध जैसे संपन्न प्रांत के जन-जीवन को गर्त बना डाला। पूरा नवाबी प्रशासन उनका मोहताज हो गया। इस बीच वहाँ कई अंग्रेज आए, जिनमें पादरी, शिक्षक व्यापारी भी थे। धीरे-धीरे वहाँ अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार प्रसार हुआ। इससे युवा पीढ़ी में कुछ जागृति आई। 'करवट' के बंशीधर टंडन जैसे लोग अंग्रेजों की इसी भूमिका की देन थे। इंग्लैंड से आए व्यापारियों ने आधुनिक वस्तुओं के नाम पर लखनऊ के नवाबों को खूब ठगा। देसी व्यापारियों की अर्थव्यवस्था को डावाँडोल कर दिया। उनके व्यापार करने के तरीके भी हिंदुस्तानियों से अलग थे। लखनऊ रेजीडेंसी में कार्यरत कई अधिकारियों की पत्नियाँ विलायत से तरह-तरह का सामान लाती और हिंदुस्तानियों की मार्फत मुनाफा लेकर तरह-तरह से बेचती।[60] इसके लिए वे लोगों को, खासकर युवाओं को अपनी सुंदरता के मोहजाल में फँसातीं, तरह-तरह के आश्वासन देती, अपना दोस्त घोषित करती। रेजीडेंसी के अंग्रेज अधिकारी माल्कम की पत्नी नैंसी के इस चरित्र को रेखांकित करते हुए 'करवट' में अमृतलाल नागर ने लिखा है- 'नैंसी माल्कम बंसी के चेहरे के एक-एक उतार-चढ़ाव को कनखियों से देख-देखकर मजा ले रही थी। उसने फिर गिलास उठाया...उसकी कुर्सी के पास जाकर चारों तरफ एक चौकन्नी नज़र डाली। फिर उसके होंठों पर अपने होंठ रख दिए, कहा -

'लो पियो, तुम बहुत प्यारे हो मेरे दोस्त, शर्मीले और खूबसूरत भी हो....

'...तुम कल फिर आओ, बंशीधर...मैं यह किताबें खरीदूँगी और तुम्हें कुछ विलायती सामान भी दिखलाऊँगी। तुम उन्हें यहाँ बेचने की कोशिश करो, तुम्हें अच्छा कमीशन मिल जाएगा।'[61]

नैंसी माल्कम के लिए केवल बंशीधर ही नहीं, कई ऐसे लोग थे, जो ग्राहक पटाते थे।[62] इसमें शाही-खानदान के लोगों से लेकर नवाबी-दरबार के बड़े-बड़े अधिकारी तक शामिल थे, जिन्हें अंग्रेजों ने मुनाफाखोरी के लिए प्रोत्साहित किया।

वस्तुतः अंग्रेजों ने लखनऊ को हर तरह से कमजोर बनाने और आर्थिक-रूप से उसकी रीढ़ तोड़ने की कोशिश की। इसके पीछे उनका केवल एक ही मकसद था- भारत के अन्य प्रांतों की तरह किसी भी तरह अवध पर उनका अधिकार हो जाए। यद्यपि बादशाह नसरुद्दीन हैदर के शासनकाल में ही उन्होंने लखनऊ पर कब्जा करने का मन बना लिया था, पर बादशाह बेगम और जनता का रुख देखकर वे ठहर गए थे।[63] मोहम्मद अली शाह (१८३७-१८४२) के गद्दी पर बैठने के बाद वे धीरे-धीरे उसे साकार रूप देने लगे। १८४७ ई. में उनके पुत्र अमजदअली शाह के निधन के बाद वाजिदअली शाह गद्दी पर बैठे। उनकी भी रुचि शासन-व्यवस्था में कम, मन बहलाव के कार्यो में अधिक थी। उनके जमाने में लखनऊ में कला और साहित्य के क्षेत्र में एक मिसाल कायम की।[64] इसका लखनऊ के सामाजिक-जीवन पर गहरा असर पड़ा। हिंदूओं और मुसलमानों की मिली-जुली संस्कृति ने नागरिक-सभ्यता के इतिहास में लखनऊ की एक पहचान स्थापित की। लेकिन शासन-व्यवस्था के प्रति किंचित उदासीनता और अनदेखी रहने के कारण अवध पर अंग्रेज एक हद तक से पूरी तरह से हावी होते गए। वाजिदअली शाह भी कम बिलासी नहीं थे। इसलिए उनके शासनकाल में व्यभिचार को और भी बढ़ावा मिला।

स्पष्टत: नवाबीदौर में लखनऊ-समाज एक पतनशील-समाज था। नवाब, वजीर, अधिकारी, तवायफें, व्यापारी, दास-दासी, कंजर, भिखारी, प्रौढ़-वृद्ध-महिला, लगभग लखनऊ का प्रत्येक सामाजिक-वर्ग अपने नैतिक-स्तर से गिरकर एक पतनशील-संस्कृति के बीच जी रहा था। इसकी ओर अमृतलाल नागर ने 'शतरंज के मोहरे' और 'करवट' उपन्यास के आरंभिक अंशों में संकेत किया है। इस नैतिक गिरावट में उम्र की कोई सीमा नहीं थी। नईम, बंशीधर जैसे युवा चरित्रों से लेकर आगामीर, बादशाह बेगम, श्रीमती रिकेट्स, नैंसी माल्कम, गाजीउद्दीन हैदर, नसरुद्दीन

हैदर, वाजिदअली शाह, रेजीडेंट, पार्किंसन, भिश्ती जैसे हर उम्र के लोग शामिल थे। समाज कहाँ जा रहा है, आने वाली पीढ़ी पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा-- इसकी किसी को चिंता नहीं थी। एक तरह से नवाबी दौर का लखनऊ-समाज उस गहरी-खाई के मुहाने पर आकर खड़ा हो गया था, जहाँ से एक हल्का-सा धक्का देना ही काफी था। अंग्रेजों ने यह धक्का दिया, जब रेजीडेन्ट जेम्स आउट्रम ने वाजिदअली शाह पर अक्षमता का आरोप लगाकर १३ फरवरी, १८५६ ई. को उन्हें गद्दी से उतार कर कलकत्ता के मटिया बुर्ज भेज दिया तथा अवध को ब्रिटिश-राज्य में शामिल कर लिया। नवाब वाजिद अली शाह ने बहुत ही दुखी मन से लखनऊ छोड़ा :

"यही तस्वीर सवेरा आज है बंगाले में।

लखनऊ फिर भी दिखाएगा मुकद्दर मेरा।"[65]

वाजिदअली शाह कितने ही ऐयाश क्यों ना रहे हों, लखनऊ की जनता को उनसे प्यार था। वह एक भावुक-इंसान और श्रृंगारिक-कवि थे। लखनऊ की जनता ने अनेकानेक महफिलों में उनका दीदार किया था। उनसे बिछड़ने का दुख सबको था। वाजिद अली शाह को जब अवध की गद्दी से उतारा जा रहा था, तब होली का मौसम था। बादशाह से बिछुड़ने के गम में लखनऊ की जनता ने होली नहीं मनाई, 'शहर में हर एक का मन फीका है, फिर रंग कैसे खेला जाए?'[66] जनता को जब यह पता चला कि बादशाह नगर छोड़कर जा रहे हैं, तो वह विचलित हो उठी। जनता को इस मन:स्थिति का वर्णन करते हुए नागर जी ने 'करवट' में लिखा है- "बादशाह महलों से बिल्कुल गुपचुप निकले थे। फिर भी जाने कैसे खबर फैल गई और लगभग तीन-चार हजार आदमियों की भीड़ पीछे लगी कि- 'जानेआलम, वतन न छोड़िए, हम सब आपके साथ हैं।' और बादशाह ने कहा कि- दरो-दिवार पे हसरत से नजर करते हैं- खुश रहो अहले वतन हम तो सफ़र करते हैं।' सारा शहर रो रहा है।"[67]

बादशाह को नजरबंद करके अंग्रेजों ने कोलकाता तो भेज दिया लेकिन, लखनऊ की जनता इस बात को भुला नहीं पाई कि अंग्रेजों ने उनकी 'लखनवी जिंदगी' में हस्तक्षेप किया है; उनके बादशाह को बिना किसी कारण के सत्ताच्युत कर दिया है। इसी का परिणाम था कि जब बेगम हजरतमहल के नेतृत्व में गदर के बागी सिपाहियों ने ३० जून, १८५७ को रेजीडेंसी को घेरा तो लखनऊ की जनता ने खुलकर उनका साथ दिया। एक लंबे और भयानक युद्ध के बाद लखनऊ मुक्त हुआ तथा वाजिदअली शाह की अनुपस्थिति में उनके एक दस वर्षीय शहजादे

बिरजीस कदर को लखनऊ की जनता ने अवध का नया बादशाह घोषित कर दिया। उन्होंने बेगम हजरत महल के नेतृत्व में आठ महीने तक लखनऊ पर शासन किया लेकिन, यह आजादी अधिक दिनों तक टिक नहीं पाई। लखनऊ को अपने अतीत की गलतियों का परिणाम भुगतना ही था। अंग्रेजों ने अपने सैन्यबल और सूझ-बूझ से गदर को दबा दिया। लखनऊ पर अंग्रेजी शासन स्थापित हो गया।

(२.) मध्यवर्ग का उदय और राष्ट्रीय चेतना का विकास

अमृतलाल नागर, अंग्रेज-शासित भारत में अस्तित्ववान होने वाले 'मध्य-वर्ग के उदय' के लेखक है। गदर से पहले और बाद में भी इस देश में अंग्रेजों के आने के साथ तथा उनके प्रभाव से और अंग्रेजों द्वारा शुरू की गयी शिक्षा की नई-व्यवस्था के फलस्वरूप नौकरियों में आने से जो मध्य-वर्ग विकसित होने लगा, नागरजी उसे लेकर लिखने वाले पहले गंभीर हिंदी कथाकार और उपन्यासकार हैं।

गदर के बाद अंग्रेजों ने लखनऊ को लगभग रौंदकर रख दिया। बेगमों के महलों में घुसकर लूट-पाट की। कई इमारतें ध्वस्त हो गई। जौहरी और मीना बाजार मिट गया। एक तरह से लखनऊ की पुरानी रौनक ही समाप्त हो गई। 'जिन हौजो में कभी वेदमुस्क के सुगंध की लपटे उठा करती थी, वहाँ अब निर्लज्ज गोरे खड़े-खड़े पेशाब करने लगे।'[68] इस लड़ाई में चौक का बाजार लगभग तहस-नहस हो गया। इसकी चर्चा करते हुए नागरजी ने 'करवट' में लिखा है- "सड़क गुलजार जरूर थी, मगर वह रौनक नहीं थी, जो गदर के पहले अक्सर दिखलाई पड़ती थी। शाही कैसरबाग के फाठकों पर पहरे अभी बदस्तूर वैसे ही लगते हैं, लेकिन शाही महलों के आसपास बंशीघर को वैसा ही अनुभव हुआ, जैसे घर से लाश निकल जाने के बाद मनहूसियत और सन्नाटा नजर आता है।"[69]

यह अंग्रेज कालीन लखनऊ था, जहाँ गदर के बाद पुरानी सभ्यता और संस्कृति धीरे-धीरे मिटनी शुरू हो गई थी। लखनऊ अब वह लखनऊ नहीं था, जिसको लोग जानते थे। अब कोठों की रौनक भी वैसी नहीं रही, जैसी नवाबी-काल में थी। तवायफों का महत्व भी धीरे-धीरे कम होता गया। नवाबी छिन जाने के कारण उन्हें आश्रय देने वाले नवाब खुद निराश्रय हो गए। उनका आर्थिक-स्रोत जाता रहा। अब तवायफों का स्थान धीरे-धीरे वेश्याओं ने लेना शुरू कर दिया, जो शारीरिक व्यापार कर अपनी रोजी-रोटी चलाती थीं। चौक के गोल दरवाजे वाली गली

में घुँघरू की थाप अब भी वैसी ही सुनाई पड़ती थीं, लेकिन उनकी वह हैसियत जाती रही। लोगों के रहन-सहन में भी बदलाव आया। सामाजिक-जीवन भी नए ढंग से चलने लगा। कुछ तो नवाबी दौर के लखनऊ का प्रभाव था, लेकिन बहुत अंशों में वह नई सभ्यता से प्रभावित था, जिसे अंग्रेज लाए थे। अब लखनऊ में एक नए समाज का उदय हुआ। यह नया समाज, पुराने लखनऊ समाज से एकदम भिन्न था। इसका रहन-सहन अलग था, बोलचाल उर्दू की अपेक्षा अंग्रेजी-मिश्रित हिंदी अधिक हो गई थी, खान-पान अलग था, शौक अलग था, सामाजिक-दायरा अलग था। यह नया लखनऊ बदलते हुए समाज के साथ तेजी से आगे बढ़ा; अपने विकास का एक नया मार्ग प्रशस्त किया।

लखनऊ पर अब अंग्रेजों की हुकूमत थी। इस बीच कई ब्रिटिश अधिकारी, पादरी, व्यापारी और शिक्षक लखनऊ आए।[70] उनके साथ उनका समाज आया, संस्कृति आई। मार्टिन साहब की कोठी में अंग्रेजी स्कूल खुला। बाद में भी भारतीय जनता के लिए कई स्कूल खुले, जिनमें अंग्रेजी लिखने-पढ़ने की व्यवस्था थी। पहले तो लोगों ने अंग्रेजी शिक्षा का विरोध किया,[71] फिर लखनऊ के उसी समाज में से एक ऐसा वर्ग निकला, जिसे विश्वास था कि आने वाले दिनों में यही शिक्षा काम आएगी- 'उसे इन अंग्रेजों को जीतना है, वह इनकी जुबान सीखेगा, अदबो-अदाब सीखेगा और इन्हीं की बदौलत अपनी तकदीर बनाएगा।[72]

यह लखनऊ का वह वर्ग था, जो नवाबी-काल में अपनी लघु सीमा में अपार महत्वाकांक्षा लिए हुए एक सुखद-भविष्य की तलाश कर रहा था। उसने अंग्रेजी-शिक्षा का परिवार के विरोध के बावजूद आगे बढ़कर स्वागत किया, उसका अध्ययन किया तथा अपने प्रगति के मार्ग को प्रशस्त किया। यह लखनऊ का मध्यवर्ग था, जिसका उदय १८वीं सदी के चौथे-पाँचवें दशक में 'मुगल साम्राज्य के विघटन काल में ही होने लगा था।'[73] अंग्रेजों ने १८३५ ई. में लार्ड मैकाले की शिक्षा-नीति के तहत भारतीय शिक्षा-पद्धति को नष्ट करके, अपनी शिक्षा-पद्धति लागू करने की कोशिश की थी। उसका सीधा मकसद, ब्रिटिश-साम्राज्य को सुदृढ बनाने के लिए एक ऐसा वर्ग तैयार करना था, जो रंग और खून में तो हिंदुस्तानी हो, पर रुचि, विचारों और बुद्धि से अंग्रेज हो।[74]

परिणामत: अपनी नई प्रशासन-व्यवस्था और वाणिज्यिक प्रतिष्ठानों की जरूरतों के लिए अंग्रेजों ने तेजी से नई-नई शिक्षा की तथा अन्य संस्थाओं की स्थापना की, जिनमें कानून,

वाणिज्य तकनीकी आदि विषयों की पढ़ाई होती थी। इस तरह ज्यों-ज्यों नए प्रकार का समाज विकसित होता गया, वैसे-वैसे आधुनिक पेशेवर वर्गों का जन्म और विकास हुआ। यह वर्ग आधुनिक उद्योग, कृषि, वाणिज्य, वित्त, प्रशासन, प्रेस और नए सामाजिक-जीवन के अंगों-उपांगों से जुड़े हुए थे। प्राक्-ब्रिटिशकाल में इनका अस्तित्व नहीं था क्योंकि; उस वक्त इस तरह की सामाजिक, आर्थिक और वर्गीय-व्यवस्था नहीं थी।'[75] इस नए सामाजिक और राजनीतिक-परिवर्तन का लखनऊ के लोगों पर गहरा असर पड़ा तथा भारतीय शिक्षित-वर्ग की तरह ही यहाँ का शिक्षित-वर्ग भी पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृत की ओर आकृष्ट हुआ। विदेशी-समाज तथा साहित्य के संपर्क में रहकर यह महसूस करने लगा कि हमारे समाज और धर्म में भी बुराइयाँ हैं।

अमृतलाल नागर के 'करवट' का बंशीधर भी इस बात को महसूस करता है कि उसके समाज और धर्म में भी बुराइयाँ हैं। वह दुख के साथ सोचने लगा कि हमारे देश में भी क्या कभी अच्छे दिन आ सकेंगे?...यह ओले-दौले...रईस सच पूछो तो हमारे अवध के लिए अभिशाप बन गए हैं....लूट-पाट, व्यभिचार, नशाखोरी और रिश्वतखोरी ही यहाँ का धर्म और कर्म है। वह सोचने लगा कि यहाँ के हिंदू-मुसलमान दोनों ही उल्लू के पट्ठे हो गए हैं। अंग्रेज ही इन्हें जूते मार-मारकर अक्ल सिखाएँगे।[7]

'...सच पूछिए तो हमारे पिछड़ेपन की वजह हमारा हिंदू धर्म ही है।'[77]

अंग्रेजों की सोहबत में रहने के बाद वह यह भी महसूस करने लगा कि अंग्रेजी पोशाक हिंदुस्तानी पोशाक से अधिक चुस्त होती है...इसके आगे शाहों-बादशाहों की हीरे-मोतियों से जड़ी मखमल की पोशाकें भी झेंप जाती है।[78] इतना ही नहीं, उसके अंदर अपने देश, अपने लखनऊ की हर वस्तु के लिए हीनता अनुभव होने लगी।[79] अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए वह नैंसी और रोजी जैसी अंग्रेज औरतों के तलवे चाटने के लिए भी तैयार हो गया।[80] यह उसकी मजबूरी भी थी क्योंकि; लखनऊ क्या, पूरे विश्व में विकास के लिए मध्यवर्ग को अपना स्वाभिमान बेचकर हर स्तर पर समझौता करना पड़ा है। बंशीधर का अंग्रेज दोस्त फिन्कॉट कहता भी है कि 'दुनिया में सताए हुए मजलूम लोगों और जुल्म करने वालों के बीच में कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो चमगादड़ों की तरह चरिन्दों और परिंदों, दोनों ही में शामिल होने की कोशिश करते हैं। हम तुम मध्यवर्ग के लोग दुनिया में सब जगह ऐसे ही होते हैं।

कभी-कभी बंशीधर को अपनी इस स्थिति पर ग्लानि जरूर होती है, लेकिन वह इस बात

को भी महसूस करता है कि 'अंग्रेजी पढ़ना बहुत ही आवश्यक है।'[81] इसके साथ ही वह यह भी निश्चय करता है कि अंग्रेजी पढ़कर और इनकी सोहबत में रहकर वह खुद को भी पहचानने की कोशिश करेगा।[82] उसे अपने हिंदू धर्म की चंद्रिका मैया की भी याद आती है, जिनको वह अपना रक्षक मानता है।[83] इसलिए वह निश्चय करता है कि वह अध्यापक बनेगा। 'एक तीर से दो शिकार करेगा। सम्मान पूर्वक जीविका भी कमाएगा, साथ ही बहुत से नवयुवकों को अंग्रेजी पढ़ाकर उनके सोए हुए संस्कारों को जगाएगा, उनमें स्वतंत्रता की चेतना भरेगा।'[84] तथा उसके द्वारा 'भविष्य में पढ़ाई जाने वाली नई पीढ़ी' जनता में, 'नवचेतना का संचार करेंगी।'[85]

स्पष्टत: यहाँ नागरजी ने बंशीधर जैसे मध्यवर्गीय चरित्रों के माध्यम से इस बात की ओर संकेत किया है कि भारतीयों में राष्ट्रचेतना का विकास गदर के बाद शुरू हुआ।[86] 'करवट' का बंशीधर लखनऊ वासियों में इस चेतना का संचार करता है। वह कोलकाता से लौटने के बाद लखनऊ में अंग्रेजी स्कूल खोलता है तथा आसपास के गाँवों में जाकर छात्रों को इकट्ठा करता है।[87] उनमें भारतीय चेतना जागृत करता है। लखनऊ में अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार को लेकर अपने परिवार से लेकर गाँव-वासियों तक के विरोध का सामना करता है। 'भला तो तुम अंग्रेजी पढ़ाओगे? क्रिस्तान ही पढ़ेंगे साले और कोई धर्म-कर्म वाले हिंदू तो पढ़ेगें नहीं।[88] 'कुदऊ सिंह की ठाकुरैती भड़क उठी। वह भी खड़े होकर बोले- "हमहू खुलेआम कहिति है कि बब्बू जो म्लेच्छ की भाषा पढ़ि है तो हम अपने घर में बहिका न घुसे द्याब।"[89]

लखनऊ के सामाजिक-जीवन पर अंग्रेजी शिक्षा, रहन-सहन और विचार पर गहरा असर पड़ा। इस पढ़ाई ने नई और पुरानी पीढ़ियों में प्रबल संघर्ष छेड़ दिया। पूरा समाज आंदोलित हो उठा। बंशीधर की 'जातीय पंचायत' इसका विरोध करती है। उसे जात-बिरादरी से निकालने की धमकी देती है। खत्री जाति के पुराने विचार की भूल्ली लाला, रजोले पाधा जैसे लोग पंचायत की बैठक बुलाते हैं तथा बंशीधर के परिवार को बिरादरी से निकालने की धमकी देते हैं।[90] बंशीधर इस 'जातीय पंचायत' का डटकर सामना करता है। उसके इस कार्य में उसका व्यापारी मित्र त्रिकीलीनाथ चोपड़ा और उसकी पत्नी मैगी भी साथ देती है। अपने बच्चों को बंशीधर के 'एंग्लो-वर्नाकुलर स्कूल' में पढ़ाने का निश्चय करती है तथा दोनों यह भी तय करते हैं कि ऊँची पढ़ाई के लिए बाद में वे उन्हें विलायत भी भेजेंगे : 'हमारा मनुआ स्कूल में तो पढ़ेगा ही भाभी, लेकिन उसके बाद मैं उसे विलायत भी भेजूँगा...मैं अपने लड़के को ऊँचा ओहदेदार बनाऊँगा।[91]

वस्तुत: उस समय की जातीय पंचायतें अंग्रेजी-शिक्षा, अंग्रेजी रहन-सहन आदि का विरोध तो करती ही थीं, विलायत जाने वालों को भी जात-बिरादरी से बाहर निकाल देती थी। प्रारंभ में लोग जात-बिरादरी से डरते थे, उसका लिहाज करते थे, लेकिन जैसे-तैसे शिक्षा का प्रचार-प्रसार बढ़ता गया, वैसे-वैसे समाज में एक नई चेतना आती गई। इस नई चेतना में पलने-बढ़ने वाले लोगों ने पुरानी जातीय पंचायतों को करारे धक्के ही नहीं दिए, वरन् कालांतर में उन्हें ध्वस्त कर डाला।[९२] 'करवट' का बंशीधर आखिरी समय तक पुरानी जातीय पंचायत से लड़ता है, अपने पुत्र देशदीपक टंडन को जात-बिरादरी से मुक्त रखता है तथा भुल्ली लाला जैसे 'जातीय पंचायत' के ठेकेदारों को परास्त करता है।[९३] इतना ही नहीं, बंशीधर लखनऊ-समाज में नई चेतना को प्रभावित करने के लिए अपने स्कूल में 'यंग थिंकर सोसाइटी' के माध्यम से विलियम जोन्स, मैक्समूलर, राजा राममोहन राय जैसे विद्वानों और समाज-सुधारकों पर व्याख्यानमाला आयोजित करता है।[९४] डॉक्टरी पढ़ रहा उसका पुत्र देशदीपक टंडन भी जात-बिरादरी की अवहेलना करते हुए, घर-परिवार से परित्यक्ता कौशल्या का हाथ माँगता है।[९५]

सन् १८७० के बाद लखनऊ के सामाजिक जीवन में एक नए प्रकार का बदलाव आना शुरू हो गया था। अंग्रेजी शिक्षा का असर तो था ही, मध्यवर्ग की सोच और संस्कृति में आ रहा तेजी से परिवर्तन भी इसका बहुत बड़ा कारण था। उस समय तक भारतीय समाज में स्वामी दयानंद का आगमन हो चुका था तथा उनके विचारों का भारतीय समाज पर गहरा असर पड़ रहा था। सन् '७२ में उनका लखनऊ आगमन हुआ, जिसकी चर्चा 'करवट' के बंशीधर और पंडित प्रभुदयाल शास्त्री करते हैं।[९६] दूसरे दिन बंशीधर भी उनका प्रवचन सुनने जाते हैं तथा उनसे प्रभावित होते हैं। स्वामीजी के प्रवचन का लखनऊ की जनता पर गहरा असर पड़ता है। इस प्रभाव की चर्चा करते हुए नागरजी ने 'करवट' में लिखा है- "नगर में दयानंद आ गए हैं, मानो एक प्रचंड तूफान आया है। वह मंदिरों और मूर्तियों के विरोधी हैं, पुराणों को गधों भरे खोखले पोथे बतलाते हैं। वह हिन्दुओं के देवी-देवताओं की निंदा तो करते ही हैं, साथ में मुसलमानों और ईसाइयों के धर्म-ढकोसलों की बुराइयाँ करने से भी नहीं चूकते....गोमती के घाटों पर छोटे-बड़े मंदिरों और ठाकुरद्वारों में, गलियों के चबूतरो पर, तमोलियों और भंगेड़ियों की सजी-बजी दुकानों पर, हाट में, बाट में सब जगह दयानंद ही दयानंद छाए हुए हैं।[९७]

दयानंद के विचारों का, लखनऊ का पुराना समाज खुलकर विरोध करता है। उन्हें जान से

मारने की कोशिश तक करता है।[98] लेकिन लखनऊ का मध्यवर्ग उनके विचारों का समर्थन करता है। वह चाहता है कि उसके समाज से यह सभी बुराइयाँ हटें, जिनके कारण भारतीय समाज पिछड़ा हुआ है, भारतीय चेतना दबी हुई है- 'इन नवशिक्षितों में एक वर्ग ऐसा भी है, जिसका मानस भारतीय है। वह राजभक्त, अंग्रेज-भक्त होते हुए भी भारत-भक्त है। उसका स्वाभिमान, उसकी चेतना ही हर सतह पर कमोवेश प्रकाशित थी।'[99]

लखनऊ का यह मध्यवर्ग बदलते हुए समाज के साथ चलने की कोशिश करता है। 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' और 'बालाबोधिनी' जैसी राष्ट्रीय चेतना वाली पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन करता है।[100] लेकिन इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि इस मध्यवर्गीय व्यक्ति का चरित्र हमेशा दोहरा रहा है। "यह दोहरापन 'करवट' के अध्यापक बंसीधर में भी है, 'पीढ़ियाँ' के वकील जयंत टंडन में भी, 'बुँद और समुद्र' के लेखक महिपाल, कलाकार सज्जन, नेता बाबू शालिग्राम में भी हैं और 'अमृत और विष' के लेखक अरविंद शंकर में भी। उदाहरण के लिए 'करवट' का बंशीधर ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज के प्रभाव में आकर एक ओर मूर्तिपूजा का विरोध करता है तथा अपने पुत्र देशदीपक टंडन को भी उससे दूर रखता है, तो दूसरी ओर खुद चंद्रिका देवी का भक्त है तथा उसे विश्वास है कि उन्हीं की कृपा से उसका भाग्य खुला है।"[101] उसके इस चरित्र को रेखांकित करते हुए नागरजी ने लिखा है- "वह चूहा किसी शानदार तर्क का मुर्खादा लगाकर सबके सामने अब शेर बन सकेगा। वह कह सकेगा कि भाई, मैं और सब तरह से बाहर से दयानंद जी का समर्थन करता रहूँगा पर जहाँ तक देवी-भक्ति का सवाल है, वहाँ वे अपनी मौलिक आस्था से ही संचालित होंगे, क्योंकि उनकी वामांगिन भी इसी मत की है।"[102]

एक तरह से यह मध्यवर्ग ईश्वर पर विश्वास भी करता है और नहीं भी। खासकर इस प्रकार के मुद्दों पर मध्यवर्ग की दूसरी पीढ़ी, मानसिक अंतर्द्वंद्व में कम पड़ती है, ठोस निर्णय अधिक लेती है : "मैं मूर्तिपूजा पर विश्वास नहीं करता। बचपन में आप लोग जो कह देते थे, उसे मान लेता था। तब मजबूर था, किंतु अब मैं अपने संबंध में खुद पूछ सकता हूँ।....ताया जी, आपको किसी के आगे नाक रगड़ने की आवश्यकता नहीं। अगर आप लोग आज्ञा देंगे तो मैं कौशल्या से विवाह करूँगा।[103]

मध्यवर्ग की पीढ़ी के इस प्रकार के ठोस निर्णय लेने के पीछे कई कारण थे। इस पीढ़ी को बंशीधर की तरह अपने विकास के लिए अंग्रेजो के तलवे नहीं चाटने पड़े। वह अंग्रेजों से गुलाम

की तरह नहीं बल्कि; बराबरी का बर्ताव चाहती है। इसके लिए वह अपने को इस योग्य बनाती भी है। 'करवट' का देशदीपक टंडन डॉक्टरी की पढ़ाई करके एक योग्य 'सिविल सर्जन' बनता है, लखनऊ में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है तथा इस पेशे में अंग्रेजों के साथ कदम से कदम मिलाकर चलता है। वह बंशीधर की तरह अंग्रेजों की हाँ में हाँ नहीं मिलाता है....बल्कि असहमत होने पर, बिना किसी परवाह के कड़ा विरोध भी करता है।[104]

सन् १८८५ से १९०५ के बीच भारतीय राजनीति में अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं, जिसका भारतीय समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा। सन् १८८५ ई. में सर ए. ओ. ह्यूम द्वारा भारतीय नेताओं के साथ 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' का गठन हुआ तथा २८ दिसंबर को बंबई के गोकुलदास संस्कृत कॉलेज में उसका अधिवेशन हुआ, जिसमें लखनऊ से गंगाप्रसाद वर्मा, महाजन सभा के अध्यक्ष, पी. रेंगैया नायडू के साथ 'करवट' के बंशीधर ने भी भाग लिया।....इस अधिवेशन का बंशीधर पर गहरा असर पड़ा तथा उन्हें पहली बार यह एहसास हुआ कि वह मात्र बंशीधर टंडन नहीं, बल्कि पूरा हिंदुस्तान है।[105] यहीं से मध्यवर्ग में राष्ट्रीय चेतना का तेजी से विकास हुआ तथा वह जात-बिरादरी, घर-परिवार से मुक्त होकर अपने देश के विषय में सोचने लगा। 'करवट' का डॉ. देशदीपक टंडन कहता भी है- "देश की सब जातियाँ मिलकर महाजाति बनती हैं, जैसे नदियों से गंगा और गंगा से गंगासागर। हमारा देश अब सदियों बाद फिर से जाग रहा है। एक दिन सारी जातियाँ मिलकर भारतीय महाजाति बन जाएँगी। २०वीं सदी में नए भारत को जन्म देगी।"[106]

२०वीं शताब्दी के मध्यवर्गीय लखनऊ समाज में काफी परिवर्तन आया। उसके रहन-सहन का स्तर बदल गया। पढ़ा-लिखा, संपन्न यह मध्यवर्ग अपनी सुख-सुविधाओं के लिए बाजार में आई लगभग हर नई बस्तु की तरफ लालचाई नजरों से देखता, पसंद करता, धन की व्यवस्था करके उसका क्रय करता। देशदीपक टंडन भी समाज में अपनी हैसियत बढ़ाने के लिए फोर्ड मोटरकार खरीदता है। उस समय लखनऊ में यह कार दो-तीन लोगों के पास ही थी।....इससे वह लखनऊ और आसपास के इलाकों की सैर करता है। जरूरतमंद लोगों की मदद करता है तथा अपने समय का एक लंबा हिस्सा डॉक्टरी पेशा के अलावा सामाजिक कार्यों में लगाता है।[107] एक तरफ यह मध्य सामाजिक कार्यों में भी हिस्सा लेता है, राष्ट्रीय विचारधारा के लोगों को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है, उन्हें प्रोत्साहित करता है तो दूसरी तरफ अंग्रेजों से दोस्ती भी रखता है, उनके कार्यों में सहयोग भी करता है।[108]

(२.) स्वदेशी आंदोलन :

२०वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में लखनऊ के मध्यवर्ग का एक दूसरा पक्ष भी शीघ्र ही सशक्त ढंग से उभर कर सामने आया, २६ जुलाई १९०५ को लॉर्ड कर्जन ने एक आज्ञा जारी करके बंगाल को दो भागों में विभाजित कर दिया। बंगाल के लोगों ने बंगाल विरोधी आंदोलन के तहत ७ अगस्त, १९५२ को कलकत्ता के टाउन हाल में इस विभाजन के खिलाफ एक बड़ा प्रदर्शन किया। विभाजन १६ अक्टूबर, १९०५ को लागू किया गया। उस दिन पूरे बंगाल में शोक मनाया गया, लोगों ने उपवास रखें, बहुत तड़के ही नंगे पैर जाकर गंगा में स्नान किया, कलकत्ता में हड़ताल हुई तथा रविंद्र नाथ टैगोर ने अपना प्रसिद्ध गीत 'आमार सोनार बांग्ला' लिखा। बदली हुई मानसिकता में मध्यवर्ग का यह अगला विकास था, जिसकी ओर नागर जी ने 'पीढ़ियाँ' में संकेत किया है।....बंगभंग के पीछे भी अंग्रेजों की स्पष्ट नीति थी, जिसका अगला शिकार हिंदू और मुसलमान हुए। अंग्रेजों की इस नीति की चर्चा करते हुए नागर जी ने 'पीढ़ियाँ' में लिखा है- "लार्ड कर्जन के जमाने तक आते-आते अंग्रेज हुक्कामों ने हिंदू और मुसलमान में फूट पैदा करके कांग्रेस मूवमेंट को कमजोर बनाने के लिए बंगाल का बँटवारा कर दिया। इसके बाद लॉर्ड मिंटो ने पृथक निर्वाचन पद्धति चलाकर हिंदू-मुस्लिम समस्या और जटिल कर दी। सरकारी प्रचारों से दोनों धर्मों के बीच एक बड़ी खाई क्रमशः पैदा होने लगी। अलीगढ़ी नीति का मुस्लिम सामन्ती-वर्ग, जो अपनी हुकूमत छीनी जाने के कारण पहले अंग्रेजों से नाराज था, अब इस बात पर खीजने लगा कि जो हिन्दू-प्रजा कल तक उनके अधीन रहकर मुँह से चुकारा नहीं निकालती थी, उसी वर्ग के लोग अब अंग्रेजी पढ़-पढ़कर उन्हीं के ऊपर हुकूमत कर रहे हैं। यहीं से हिंदू-मुस्लिम दंगे की शुरुआत हुई।"[109]

स्पष्टत: यहाँ नागरजी अंग्रेजों की उस नीति को ओर संकेत करना चाहते हैं, जिसके तहत उन्होंने हिंदुस्तान पर वर्षों तक शासन किया। मुस्लिम सम्प्रदायवाद का विकास भी इसी के दौरान हुआ। इसके पीछे भी अंग्रेजों की ही भूमिका थी। लेकिन लखनऊ पर इस संप्रदायवाद का असर नहीं के बराबर पड़ा और हिन्दू-मुस्लिम दंगे भी यहाँ नहीं ही हुए। इसका कारण बताते हुए अपने एक साक्षात्कार में नागरजी ने कहा था कि "इस देश में प्रधानता सुन्नियों की ही रही है। शिया संप्रदाय के मुसलमान उनसे दबे हुए ही रहे। सआदत खाँ से शिया का प्रभाव पड़ा और यह शियानगर हो गया। तो स्वाभाविक रूप से शियों ने जो एक हद तक सुन्नियों के गुलाम थे, आजादी पाई और हिंदुओं के निकट आना शुरू किया। इसलिए यहाँ हिन्दू-मुस्लिम दंगे कम

हुए।"[110] नागरजी की उपयुक्त बात पर बहस हो सकती है, लेकिन इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि लखनऊ में शियाओं की बहुलता के कारण ही यहाँ हिंदुओं और मुसलमानों की एक-एक मिली-जुली संस्कृति पनपी, जिसका लखनऊ के सामाजिक जन-जीवन पर गहरा असर पड़ा। इधर राम-जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद के विवाद को लेकर हिंदूओं और मुसलमानों के बीच तनाव जरूर हुए, बम फटने और लोगों के घायल होने की छिटपुट घटनाएँ भी घटीं, लेकिन स्थिति अभी भी अन्य स्थानों की तुलना में सामान्य है। 'पीढ़ियाँ' में भी सआदत गंज की बेगम साहिबा, जयंत से लखनऊ में दंगा नहीं होने की चर्चा करती हैं।[111] आगे नागरजी सआदतगंज में दोनों संप्रदायों के बीच फैले तनाव को लेकर यह भी बतलाते हैं कि यह अंग्रेज सरकार का ही काम है। जयंत टंडन उत्तेजित भीड़ से स्पष्टत: कहता है- 'यह काम पुलिस से करवाया गया है, बाबा जी! आप समझते क्यों नहीं है?...किसी बड़े अंग्रेज हाकिम ने हिंदुस्तानी कोतवाल को इशारा किया होगा, कोतवाल ने थानेदार को, थानेदार ने पुलिस को और पुलिस ने किसी कसाई से गाय का सिर कटवा कर शिवजी पर चढ़ा दिया। इसमें हिंदू-मुसलमान का प्रश्न ही नहीं है, प्रश्न तो हमारी धर्मभावना को मिथ्या रूप में भड़काने का है। आज शिवाले को अपवित्र किया, कल किसी मस्जिद को सूअर काटके अपवित्र करवा देंगे।'[112]

वस्तुत अंग्रेजों ने कई तरह से इस देश में राष्ट्रीय आंदोलन को कुचलने का प्रयास किया। बंग-विभाजन और हिंदू-मुसलमानों के बीच आपसी फूट डालने के साथ ही उन्होंने कई नियम-कानून बनाए। परन्तु यह आंदोलन रुका नहीं, बढ़ता ही गया। वास्तव में बदली हुई मानसिकता में लखनऊ के मध्यवर्ग का यह अगला विकास था, जिसकी ओर जयंत टंडन के माध्यम से नागर जी ने 'पीढ़ियाँ' में संकेत किया है। लखनऊ का यह मध्यवर्ग 'करवट' से एकदम अलग है, अपने अंदर पनप रही 'राष्ट्रीय-भावना' को यह 'करवट' की तरह दबाता नहीं है, बल्कि घर-परिवार के खिलाफ जाकर खुलकर उसका इजहार करता है,....स्वदेशी-आंदोलन में जमकर भाग लेता है, आंदोलन को चलाने के लिए 'हिंदी' पर बल देता है तथा उस वर्ग के खिलाफ संघर्ष छेड़ता है, जो अंग्रेज और अंग्रेज सरकार की हिमायती है- 'आप लोग स्वदेशी-स्वदेशी की झूठी ढाल लेकर बिलायती की हिमायत करेंगे तो हम भी स्वदेश के स्वाभिमान की रक्षा के लिए पूरी तरह से तैयार होकर आए हैं - 'वंदे मातरम!'[113]

'पीढ़ियाँ' का जयंत टंडन इस मध्यवर्गीय चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। लखनऊ में

स्वदेशी-आंदोलन को सशक्त बनाने के लिए वह बड़े-बड़े लोगों से प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करवाना चाहता है। स्वदेशी धंधों पर जोर देता है तथा लखनऊ वासियों में जन-जागृति के लिए इस बात पर जोर देता है कि बंगाल की तरह यहाँ भी प्रभातफेरियाँ निकाली जाएँ- "मैं चाहता हूँ कि यहा़ँ का स्वदेशी आंदोलन मजबूत करो... यहाँ के जितने बड़े-बड़े लोग हैं, उनसे इस प्रतिज्ञापत्र पर दस्तखत कराएँ जायें कि वे स्वदेशी मिलों का कपड़ा ही पहनेंगे... बंगाल की तरह हम भी सवेरे-सवेरे यहाँ 'वंदे मातरम्' की प्रभात फेरियाँ क्यों न निकालें?... हम भी 'वंदे मातरम्' के गीत गाएँगे और स्वदेशी का प्रचार करेंगे। कम-से-कम चौक, सआदत गंज और तुम्हारे इस तरफ लाल कुआँ, छितवापुर, रिसालदार पार्क, नाके हिंडोले वगैरह मोहल्लों में प्रभातफेरियाँ निकाली जा सकती है...।"[114]

इसी क्रम में नागरजी, रासबिहारी तिवारी, चौपटिया के बालमुकुंद बाजपेई और रूपनारायण पांडेय जैसी लखनऊ की विभूतियों की चर्चा करते हैं, जिन्होंने लखनऊ में स्वदेशी आंदोलन को तीव्र बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इस स्वदेशी आंदोलन को बढ़ावा देने के लिए लखनऊ के 'नागरी प्रचारक' पाक्षिक पत्र के संचालक, संपादक गोपालदास खत्री ने एक नागरी प्रचारक कंपनी की स्थापना तक कर डाली। जिसका कार्य अपने पाठकों को प्रतिमाह हिंदी में प्रकाशित होने वाली किताबें और पत्र-पत्रिकाओं की सूचना देना था।....इतना ही नहीं, लखनऊ के युवकों ने इस आंदोलन को मजबूत बनाने के लिए धार्मिक कार्यों में विलायती शक्कर का उपयोग न करने की अपील की, जिसके कारण स्त्रियों और ब्राह्मणों में विलायती शक्कर के प्रति एक प्रबल धार्मिक प्रतिरोध उत्पन्न हो गया।....इसका लखनऊ के लोगों पर इतना असर पड़ा कि वहाँ के 'हठीराम की चढ़ाई वाले प्रसिद्ध मुरब्बे-मिठाई विक्रेता रामआसरे हलवाई ने ढिंढोरा पिटवा दिया कि हमारे यहाँ देसी खांड, देसी घी और कुएँ के शुद्ध जल का प्रयोग होता है।'[115]

सन् १९१३ में अमेरिका और कनाडा में बसे भारतीयों ने देश की स्वतंत्रता के लिए 'गदर पार्टी' की स्थापना की, जिससे राष्ट्रीय-आंदोलन को बल मिला। इस बीच १९१४ में प्रथम विश्वयुद्ध शुरू हो गया, जिसकी चर्चा करते हुए लखनऊ की आम जनता इस बात पर बहस करती है कि विश्वयुद्ध में इस्तेमाल किए जा रहे अधिकांश हथियार देवनागरी संस्कृत भाषा की किताबों से देखकर बनाए हुए हैं।....यह विश्वयुद्ध लंबा खिंचा। इसी दौरान भारतीय नेताओं में

लोकमान्य तिलक, एनी बेसेंट और एस. सुब्रमण्यम अय्यर ने ब्रिटिश सरकार से माँग की कि युद्ध समाप्ति के बाद भारत को 'स्वशासन' दे दिया जाए। लेकिन ब्रिटिश सरकार पर इन माँगों का जरा भी असर नहीं पड़ा तथा राष्ट्रीय-आंदोलन के दमन के लिए उसने १९१९ में 'रॉलेट एक्ट' लागू कर दिया। १३ अप्रैल १९१९ को हुए जलियाँवाला बाग कांड ने राष्ट्रवादियों को झकझोर कर रख दिया।....'पीढ़ियाँ' में नागरजी इन सारी बातों की चर्चा करते हैं तथा बतलाते हैं कि लखनऊ की जनता पर इन सारी घटनाओं का असर पड़ा। ब्रिटिश सरकार की दम-नीति के विरोध में लखनऊ विश्वविद्यालय के रफी अहमद किदवई, गोपाल नारायण सक्सेना, गोपीनाथ श्रीवास्तव, बीएन वर्मा वासुदेव शरण अग्रवाल छात्रों ने अपनी पढ़ाई छोड़ दी द्वारकानाथ बाबू मोहन लाल सक्सेना और शेख शौकत अली के साथ ही नागर जी के मध्यवर्गीय चरित्र जयंत चंदन ने अपनी वकालत छोड़ दी, डॉ० शिवसहाय सक्सेना और श्यामसुंदर कैसर ने क्रमशः अस्पताल और पोस्टमास्टर जनरल के कार्यालय से त्यागपत्र दे दिया तथा ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ आंदोलन में जुट गए।[116] युवाओं का तो एकमात्र लक्ष्य था 'देश की संपूर्ण आजादी', जबकि गाँधी और अन्य बुजुर्ग नेता औपनिवेशिक स्वराज्य से संतुष्ट हो जाने को तैयार थे। युवा पीढ़ी सौदेबाजी की इस मुद्रा से संतुष्ट नहीं थी।

इसी बीच ब्रिटिश सरकार ने 'साइमन कमीशन' का गठन किया, जिसका काम यह जाँच करना था कि भारत किस हद तक आजादी पाने के योग्य हो गया है।....राष्ट्रीय नेताओं ने इसका विरोध किया। लखनऊ में भी इसका विरोध हुआ तथा ३० नवंबर, १९२८ को प्रातः आठ बजे जवाहरलाल नेहरू और गोविंद बल्लभ पंत के नेतृत्व में एक विशाल जुलूस उस समय निकला, जब साइमन कमीशन ट्रेन द्वारा लखनऊ पहुँचने वाला था। दूसरी पंक्ति में इस जुलूस का नेतृत्व 'पीढ़ियाँ' के जयंत टंडन, मनोरमा और मोहनलाल सक्सेना जैसे स्थानीय नेता कर रहे थे।[117] लखनऊ की सड़कों पर घूमते हुए यह जुलूस चारबाग स्टेशन के निकट ए.पी. सेन रोड और कान्यकुब्ज कॉलेज के पास पहुँचा। पुलिस ने जमकर लाठीचार्ज किया। लोग भागने लगे। इस भगदड़ में एक महत्वपूर्ण बात घटी, जिसकी चर्चा करते हुए 'पीढ़ियाँ' में नागर जी ने लिखा है- 'एक तेरह वर्षीय बालक के पैर ज़मीन से उठ गये थे। दायें-बायें, आगे-पीछे की भीड़ के धक्कों से उस बालक के पैर का एक जूता निकल गया। दम घुट रहा था। भीड़ इस कदर हड़बड़ी और उन्मादी जोश के दौर से गुजर रही थी कि किसी को किसी का ख्याल ही न था। संयोग से वह बालक धक्के खाता हुआ एक गली के मुहाने पर छिटककर गिर गया, गिरने से चोट तो आई,

मगर भीड़ से निकलने की राहत भी महसूस की...मोच खाया हुआ बालक घोड़ों की टापों से बचने के लिए गली में भागा।'....

यह बालक कोई और नहीं, लखनऊ के खाते-पीते मध्यवर्गीय गुजराती परिवार का १२ वर्षीय अमृत था। इस जुलूस में सैकड़ों लोग घायल हुए। नेहरूजी और पंतजी घायलावस्था में पकड़े गए।[118] लखनऊ के जन-जीवन पर इस घटना का गहरा असर पड़ा। 'नमक तोड़ो आंदोलन' में भी लखनऊ की महत्वपूर्ण हिस्सेदारी रही। गूँगे नवाब पार्क में प्रतिदिन एक सभा होती। १३ अप्रैल को इस कानून का विरोध करने के आरोप में मोहनलाल सक्सेना, चंद्रभानु गुप्त, जयदयाल अवस्थी, श्यामसुंदर कैसर, हरिश्चंद्र बाजपेई और इम्तियाज अहमद जैसे नेताओं को गिरफ्तार किया गया। इन सब लोगों की चर्चा नागरजी 'पीढ़ियाँ' में करते हैं तथा यह भी दिखलाते हैं कि इनके साथ उनका मध्यवर्गीय साथी जयंत टंडन भी पकड़ा जाता है।....ब्रिटिश सरकार के खिलाफ लखनऊ की तवायफों ने भी स्वदेशी आंदोलन को बढ़ावा देने के लिए अमीनाबाद के विलायती कपड़ों के बड़े व्यापारी भरोप्रसाद बनवारी लाल की दुकान के सामने धरना दिया, राष्ट्रीय गीत गाए तथा इसके बाद जयंत टंडन जैसे नेताओं ने ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ जोशीला भाषण दिया।[119]

सन् १९३७ में कांग्रेस के नेतृत्व में कई राज्यों में 'प्रांतीय सरकार' बनी....तथा १९३५ के कानून के अंतर्गत उन्हें जो सीमित अधिकार प्राप्त थे, उसके सहारे उन्होंने जनता की दशा को सुधारने का प्रयास किया।[120] आम जनता की हालत वैसी बदतर बनीं रही। कांग्रेस राज में लखनऊ की आम जनता अपनी इस दयनीय स्थिति पर बातचीत करते हुए कहती है : 'ये कांग्रेसी सरकार साइकिल पर टिकट बढ़ा रही है न?...अमाँ उस्ताद, ये लोग तो कहते थे कि स्वराज में हम गरीबों की ही सरकार होगी। फिर ये क्या बात? सौराज होने पर ये खुदा जाने क्या जुलुम न करें।'[121]

कांग्रेस की प्रांतीय सरकार बनी तो जरूर, लेकिन ब्रिटिश सरकार से कई मुद्दों पर उसकी असहमति रही। परिणामत: यह सरकार अधिक दिनों तक चल नहीं पाई। इसी बीच अंग्रेजों ने मुसलमानों की तरह अछूतों के लिए भी पृथक निर्वाचन का अधिकार दे दिया। इसके विरोध में लखनऊ के झंडे वाले पार्क में सत्यनारायण भगवान की कथा हुई, जिसमें सवर्णों ने हरिजनों के हाथों से भगवान का प्रसाद ग्रहण किया। अब इस आंदोलन में 'करवट' के बंशीधर की चौथी

पीढ़ी तथा 'पीढ़ियाँ' के जयंत टंडन के पुत्र सुमंत टंडन ने भी भाग लेना शुरू कर दिया था- "लखनऊ में व्यक्तिगत सत्याग्रह औपचारिक रूप से शुरू होने से पहले ही राष्ट्रीय सप्ताह के दौरान गिरफ्तारियाँ शुरू हो गई थीं। व्यक्तिगत सत्याग्रह में बैरिस्टर जयंत टंडन ने ही नहीं, उनके युवा पुत्र सुमंत टंडन ने भी भाग लिया। दोनों को नौ-नौ माह की सजा हुई।"[122]

स्पष्टत: जैसे-जैसे राष्ट्रीय आंदोलन तीव्र होता गया, उसमें लखनऊ के मध्यवर्ग की हिस्सेदारी बढ़ती गई। सांप्रदायिक ताकतों का विकास भी इस दौरान खूब हुआ १९४० में जिन्ना के नेतृत्व में 'मुस्लिम लीग' कांग्रेस की घोर विरोधी हो गई तथा उसने माँग की कि स्वाधीनता के बाद देश के दो भाग कर दिए जाएँ और 'पाकिस्तान' नाम का एक अलग राज्य मुसलमानों के लिए बनाया जाए। १९४० में ही गांधी जी ने सत्याग्रह किया, जिसमें लखनऊ के निवासियों ने जमकर भाग लिया। यह आंदोलन बढ़ता गया तथा ८ अगस्त, १९४२ को बंबई अधिवेशन में कांग्रेस ने अंग्रेजो के खिलाफ भारत छोड़ो आंदोलन चलाने का निर्णय लिया।[123] 'करो या मरो' के नारों के साथ ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ जोरदार आंदोलन उठ खड़ा हुआ, जिसका लखनऊ पर भी गहरा असर पड़ा। वहाँ हीराबाई के पास एक लम्बा जुलूस निकला जिसका पुलिस ने क्रूरता से दमन किया। लोगों ने पत्थरबाजी की, टेलीफ़ोन के तार तोड़ डाले, जगह-जगह रेल की पटरियाँ उखाड़ दीं।[124] लखनऊ विद्यालय से निकलकर जुलूस घंटाघर पार्क तक गया। पुलिस ने जगह-जगह लाठीचार्ज किया, हवाई फायर किया। 'गोलियों की बौछार के नीचे से पाँच-छ: सौ विद्यार्थी पुराने मोती महल पुल पर से होते हुए निकल आए। एक दक्षिणी छात्र वेंकटेश्वर राव गोली से घायल भी हो गया...जुलूस हजरतगंज, विधानसभा मार्ग, विश्वेश्वरनाथ रोड, कैसरबाग, नजीराबाद होते हुए अमीनाबाद की ओर बढ़ा। इस बीच पुलिस ने आठ बार लाठीचार्ज किया... लेकिन आजादी के दीवाने जवानों का जोश भला कब हार मान सकता था। झंडेवाले पार्क में गोरों की फौज का पड़ाव था। इसलिए विद्यार्थी उस ओर न जाकर घंटाघर पार्क में चले गए। हरिकृष्ण अवस्थी ने उस सभा की अध्यक्षता की और 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' का प्रस्ताव पास किया। जोश और नारों से भरी हुई सभा पर अचानक पुलिस की लाठियाँ बरस पड़ी... हरिकृष्ण अवस्थी, रामकृष्ण सिन्हा, सुबोध मुखर्जी, आनन्द नारायण, किशोरीलाल अग्रवाल, गोपाल नारायण कक्कड़, रजनीकांत मिश्र, हरिचरन निगम, काजी जलील अब्बासी आदि सभी प्रमुख छात्र नेता तुरंत गिरफ्तार कर लिए गए।[125] जनता का आक्रोश बढ़ता गया। उसके साथ ही पुलिस का दमनचक्र भी तीव्र होता गया। ९ अगस्त, १९४२ को पुलिस ने नगर के कांग्रेसी दफ्तरों

पर छापा मारकर सारा कागज-पत्र उठा लिया। चंद्रभानु गुप्त, महेशनाथ शर्मा, त्रिलोकी सिंह, पुलिन बिहारी बनर्जी, राजनारायण खन्ना, गोपालनारायण सक्सेना, ठाकुरप्रसाद सक्सेना आदि नेताओं को पुलिस ने या तो पकड़ लिया अथवा नजरबंद कर दिए गए।....केवल मोहनलाल सक्सेना पकड़ में नहीं आए। उन पर पुलिस का दस हजार का इनाम था। लखनऊ में कई मित्रों-संबंधियों के यहाँ निरंतर घर बदलते हुए उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन को सक्रिय रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।[126] रामकिशोर रस्तोगी और बृजगोपाल शर्मा जैसे उत्साही लोगों ने याहियागंज से 'जन्मभूमि' का गुप्त रूप से प्रकाशन कर इस आंदोलन को और बढ़ावा दिया।....लखनऊ के उत्साही युवाक शिवकुमार द्विवेदी ने भी साइक्लोस्टाइल 'आजादी' निकालकर लोगों को उत्साहित किया।....इस बीच, जयंत टंडन भी गुप्त रूप से सक्रिय रहे तथा गूँगे नवाब के फाटक की एक सभा में भाषण देते हुए पुलिस की गोली से शहीद हुए।[127]

इस प्रकार इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि राष्ट्रीय आंदोलन में लखनऊ के मध्यवर्ग ने एक सार्थक भूमिका निभाई। 'करवट' के बंसीधर में भी इस राष्ट्रीय चेतना का अभाव नहीं था, लेकिन जिस सामाजिक और राजनीतिक परिवेश में उसकी मानसिकता विकसित हुई थी, उससे परे उसका चरित्र बन नहीं सकता था एक तरफ नवाबी शासन समाप्त हो रहा था, तो दूसरी तरफ धीरे-धीरे अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। इस हालत में बिना अंग्रेजों के सहयोग से वह अपना चरित्र विकसित नहीं कर सकता था। देशदीपक टंडन में स्पष्टवादिता आयी तो इसका सबसे बड़ा कारण यही था कि उसे बंशीधर की तरह आर्थिक और सामाजिक विषमताओं के खिलाफ संघर्ष नहीं करना पड़ा। उस समय तक अंग्रेज पूरे देश पर अपना शासन कायम कर चुके थे और बंशीधर भी उन्हीं का एक हिस्सा था। उसकी छत्रछाया में देशदीपक के चरित्र का विकास हुआ। उसे अपने विकास के लिए बंशीधर की तरह अंग्रेजों की चाटुकारिता नहीं करनी पड़ी। जयंत टंडन भी राष्ट्रीय आंदोलन में इसलिए खुलकर भाग ले सकता कि अप्रत्यक्षत: उसे अपने पिता डॉ० देशदीपक टंडन से इस दिशा में बढ़ावा मिला। सुमंत टंडन का विकास तो राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में ही हुआ। वस्तुतः यह मध्यवर्ग का क्रमिक विकास था, जिसकी ओर नागर जी 'करवट' और 'पीढ़ियाँ' में यह संकेत किया है और यही उनका लक्ष्य भी था।[128] 'करवट' में उन्होंने स्पष्टत: इस बात की ओर संकेत किया है कि गदर के बाद अंग्रेजी शासन और शिक्षा के प्रभाव से भारतीय समाज में एक नई मानसिकता का उदय हुआ तथा कालांतर में इस नई मानसिकता ने पुरानी जातीय पंचायतों को ध्वस्त कर डाला। इसी जाति

संघर्ष से नई राष्ट्रीयता का उदय हुआ,[129] जिसका परिणाम यह राष्ट्रीय आंदोलन और मध्यवर्ग की उसमें हिस्सेदारी थी।

(४.) स्वातंत्र्योत्तर कालीन लखनऊ का सामाजिक जन-जीवन

देश की आजादी के बाद मध्यवर्ग की जीवन शैली में परिवर्तन आया। लखनऊ का मध्यवर्ग भी इससे प्रभावित हुआ। खासकर स्त्रियों के जीवन में व्यापक स्तर पर बदलाव आया। आजादी के पहले और खासकर गदर के बाद मध्यवर्गीय परिवारों में स्त्रियों का जीवन मुख्यत: घर-परिवार तक ही सीमित था। कभी-कभार वह सामाजिक कार्यों में भाग लेती थी, वह भी नहीं के बराबर। 'करवट' की चमेली या कौशल्या अधिक से अधिक माथे का पल्लू हटाकर गली-मोहल्ले में निकला करती थीं। यहाँ तक कि वे अपनी नाते-रिश्तेदारियों में पर्दा-प्रथा का विरोध करने के लिए कहती थीं : कलकत्ते में पर्दा-वर्दा नहीं होता है, जेठानी जी। जब मेरी आदत एक बार छूट गई तो अब सदा के लिए छूट गई समझिए....ये बुरी आदतें तो मैं आप लोगों से भी नहीं छोड़ने के लिए कहूंगी।'[130]

बीसवीं शताब्दी में लखनऊ की महिलाओं ने भी सभा-सोसाइटी में जाना शुरू कर दिया था। 'पीढ़ियाँ' की मनोरमा खन्ना, जयंत के साथ लगातार राष्ट्रीय आंदोलन से संबंधित कई सभा-सोसाइटी में जाती हैं, भाषण देती है। यहाँ तक कि वह कई रातें राष्ट्रीय आंदोलन के सिलसिले में जयंत टंडन के साथ घर से बाहर व्यतीत करती हैं। इतना ही नहीं, वह दृढ़ता के साथ अपने पुत्र के सामने जयंत टंडन के साथ अपने अवैध संबंधों की घोषणा करती है, 'तुम्हारे पापा चले गए हों, पर असली बाप ये बैठे हैं... तुम्हारे पापा यह जानते थे किशनू कि मेरी-उनकी कभी नहीं बनी, इन्हीं से मुझे नई राह, नया ज्ञान और नया संबंध मिला।[131] पुरुष-नारी के बीच के संबंध में यह खुलापन आजादी के बाद और अधिक आया। लखनऊ की महिलाओं पर भी इसका असर पड़ा। पर्दा-प्रथा तो समाप्त हुई ही, बाजार आना-जाना भी उनका होने लगा। सिनेमा देखना भी उन लोगों के लिए अब वर्जित नहीं रहा। 'बूँद और समुद्र' की बड़ी, छोटी, तारा सभी अपने पति और देवर के साथ सिनेमा देखने जाती हैं, वहाँ फैशन पर बातें करती हैं, दूसरे पुरुषों के साथ खुलकर आँखें लड़ाती हैं। डॉक्टर शीला सिंह, चित्रा राजदान तो खुलकर महिपाल और सज्जन के साथ रहती हैं, घूमती हैं तथा कई रातें बिताती हैं। वे पुरूष के साथ पत्नी की तरह कम, मित्र की तरह रहना अधिक पसंद करती हैं। डॉक्टर शीला स्विंग जानती हैं कि लेखक महिपाल की

पत्नी है, बच्चे भी हैं, फिर भी वह खुलकर उसके साथ अपना संबंध स्वीकार करती हैं, जिसे लखनऊ सारा समाज जानता है। इसके लिए उसके मन में कहीं भी संकोच, लज्जा या पश्चाताप नहीं है : 'कल्याणी और बच्चे तुम्हारे लिए निहायत जरूरी है....और तुम....हाँ, अलग तो हो सकते हैं, पर अलग होकर हमारी जिंदगियाँ बुझ जाएँगी....ढलती उम्र में प्यार जिस्मानी जोश नहीं, बल्कि रूहानी असर होता है।'[132]

चित्रा राजदान भी इसी प्रकार सज्जन के साथ बिना वैवाहिक संबंध के कई रातें बिताती हैं। इसका सबसे बड़ा कारण उसकी असीम आकांक्षाओं का होना है। वह किसी बड़े आदमी की पत्नी बनना चाहती है, जिसके कारण उसकी सामाजिक स्थिति लगातार गिरती जाती है।[133] पुरुष समाज भी उसे केवल इस्तेमाल की वस्तु समझता है।[134] लेकिन इसके विपरीत कुछ ऐसी भी युवतियाँ हैं, जो रूढ़िवादी समाज की बखिया उधेड़ते हुए उसका परित्याग करती हैं, खुद आर्थिक स्रोत की तलाश करती हैं और अपने को समाज के शोषण से बचाती हैं। उसके लिए वे किसी का एहसान भी नहीं लेती हैं। 'बूँद और समुद्र' की वनकन्या पिता का घर त्यागने के बाद सज्जन और कर्नल की सहायता से नौकरी ढूँढती है, अपने को पुरुष से किसी मामले में कम नहीं समझती हैं, बल्कि सज्जन जब उसे आर्थिक रूप से परेशान देखकर कुछ रुपए देना चाहता है तो वह साफ मना कर देती है।[135] बावजूद इसके, मध्यवर्गीय समाज में 'पत्नी' के रूप में नारी की स्थिति उतनी अच्छी नहीं है, जबकि कल्याणी पति महिपाल द्वारा उपेक्षित रहने पर भी, वह उसकी उपेक्षा नहीं करती है। लेकिन यह चाहती है कि उसका पति घर का खर्च सुचारू रूप से चलाए, लड़की की शादी-ब्याह ठीक ढंग से निपट जाए,[136] लोग उसका सम्मान करें, समाज में उसकी भी एक हैसियत हो।

मध्यवर्गीय समाज में पुरुष की स्थिति बड़ी विचित्र होती है। उसकी पहली आकांक्षा होती है कि वे ऊँची शिक्षा प्राप्त करें, समाज में उसका मान-सम्मान हो, दस लोग जानें। 'करवट' का बंशीधर, देशदीपक टंडन, 'पीढ़ियाँ' का जयंत टंडन, 'बूँद और समुद्र' का शंकरलाल, 'अमृत और विष' का रमेश- ये सभी उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं तथा करते भी हैं। समाज में उनकी एक हैसियत बनती है। नागरजी के ये सारे पात्र लखनऊ में रहते हैं, वहाँ की गलियों में उनका बचपन जवान होता है, यदि कुछ समय के लिए बाहर जाते भी हैं तो लखनऊ उनके साथ जाता है।[137] ये सारे पात्र लखनऊ के विषय में सोचते हैं, उसके विकास के लिए जी-जान से कोशिश करते हैं। 'करवट' का बंशीधर टंडन लखनऊ के सामाजिक विकास और युवाओं में राष्ट्रीय चेतना

के विकास के लिए अध्यापक बनना स्वीकार करता है तो 'पीढ़ियाँ' का जयंत टंडन वकालत करते हुए राष्ट्रीय आंदोलन में लखनऊ का प्रतिनिधित्व करता है। 'बूँद और समुद्र' का शंकरलाल लखनऊ के चौक मुहल्ले में नई चेतना का संवाहक बनता है। उसके चरित्र की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो अधिकांश मध्यवर्गीय युवा में मिल जाएँगी। 'वह चतुर है, भावुक भी है, किंतु उसकी उदारता अपने और जिसको वह अपना मानता है, उनके लिए ही सीमित है।[138] शंकरलाल की अपेक्षा 'अमृत और विष' के रमेश और लच्छू का चरित्र अधिक व्यापक हैं, खासकर रमेश का। जब लखनऊ में बाढ़ आती है, तो वह अपने मित्र के साथ लखनऊ वासियों को बचाने के लिए जान की बाजी लगा देता है।[139] रमेश के अलावा नागरजी ने अपने इस उपन्यास में कई अन्य युवाओं के चरित्रों का आकलन किया है। उनका रहन-सहन कैसा है, उनकी रूचि कैसी है, उनका समाज कैसा है, उनकी आकांक्षाएँ क्या हैं- ये सारी बातें इस उपन्यास में सहज ढंग से उभरकर सामने आती हैं। इस उपन्यास की युवा पात्र कल्पित या मन से गढ़ी हुई कठपुतलियाँ नहीं हैं, बल्कि 'साइकिल लेकर ट्यूशन करते, बाप से लड़ते, गलियों में चुराकर बीड़ी पीते, प्रेम के सपने देखते - रमेश-लच्छू जैसे लड़के लखनऊ में ही नहीं, उत्तर भारत के किसी भी नगर में देखने को मिल जाएँगे।[140] इन युवा पात्रों में लच्छू का चरित्र सर्वाधिक सशक्त ढंग से उभर कर सामने आया है। अपने मित्र की बहन की शादी में, वही जी-जान से खटता है, व्यवस्था दुरुस्त रखने के लिए दिन-रात एक कर देता है।....जब रमेश 'इंडिपेंडेंट' के संपादक खन्ना द्वारा प्रस्तावित नौकरी को अस्वीकार कर देता है, तो वह उसे लपककर स्वीकारता है।[141] सारसलेक में अपने आदर्श को छोड़कर विकास के लिए वह हर स्तर पर समझौता करता है तथा अपनी उन्नति के लिए मिसेज माथुर जैसी रंगीन तबीयत की महिलाओं के भोग का साधनकम्युनिस्ट बनता है।[142] वह एक मध्यवर्गीय युवक की तरह सब कुछ समझते हुए भी हर जगह मोहजाल में फँसता है, हर तरह के विचार से प्रभावित होता है तथा निर्णय नहीं कर पाता है कि क्या गलत है और क्या सही? अच्छी वस्तुओं और विचारों से वह प्रभावित होता है तथा उनसे प्रेरणा ग्रहण करता है : क्रेमलिन के लाल सितारे को देखकर या कम्युनिज्म का प्रबल समर्थक न होते हुए भी उसके मन में अपनेपन की ललक जाग उठी थी।[143]

इसका सबसे बड़ा कारण है कि उसका जन्म एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। उसे इस बात का लगातार एहसास है कि 'वह भी गरीबी के सताए रुप्पन महाजन और उनके कारिन्दों के मारे हुए शोषित समाज का ही एक अंग है।....इसलिए जब सारसलेक से उसकी

छुट्टी होती है तो वहाँ की सुख-सुविधा, रोमांस-आनंद और स्वर्गिक ढंग से व्यतीत की हुई जिंदगी की उसे बार-बार याद आती है,....जबकि वह रूस से 'श्रम' का महत्व सीख कर वापस लौटा है। इसके बावजूद वह 'बड़ी आमदनी चाहता है' तथा निश्चय करता है कि 'जिन सुख-सुविधाओं को' वह सारसलेक में भोग चुका है, वह निश्चय ही पाकर दम लेगा।....इसके लिए वह सब कुछ करने को तैयार हो जाता है। जिन सेठ-पूँजीपतियों से वह कभी घृणा करता था, उन्हें गाली देता था,[144] अब उन्हीं की दलाली करने लगता है। उनके लिए लड़कियों की सप्लाई करता है- 'बैजू लाला के कहने पर जिस लच्छू ने सेठ रेवती रमण को भोगांगना सप्लाई करने से साफ इनकार कर दिया था वही लच्छू आज उन्हीं रेवती रमण को खुश रखने के लिए गोपी से सौदा पटा रहा था।'....

...इतना ही नहीं वह चुनाव में मिसेज चौधरी की जीत के लिए प्रचार प्रसार का काम करता है। इसमें लूट-खसोट के लिए बड़ी साफ नीति बनाता है और एक हजार से तीन हजार रुपए तक रोज कमाता है।....इस प्रकार पूँजीवादी समाज और राजनीति में मध्यवर्गीय युवक लच्छू का चारित्रिक पतन होता जाता है, यहाँ तक कि वह अपने प्रतिद्वंद्वी को खत्म करने के लिए सबकुछ करने को तैयार हो जाता है।[145] लेकिन उसकी नैतिकता मरी नहीं है, मन में अभी भी इंसानियत की लहर बची हुई है, जो समय पाकर उठती है। और वह पश्चाताप करता है।....अपने कुकृत्यों के लिए डॉ० आत्माराम से क्षमा माँगता है। लेकिन सवाल यह उठता है कि युवावर्ग के इस भटकाव का कारण क्या है? क्या आर्थिक विषमता? समाज में मूल्यों के प्रति पनप रही आस्थाहीनता? नहीं? लच्छू समाजवादी नेता डॉ० आत्माराम से स्पष्टत: कहता है 'एक अच्छा जीवन बसर कर चुकने के बाद, गरीबों का स्वर्ग देख आने के बाद मैं इस नरक भरी जिंदगी में तिल-तिल करके सड़ने के लिए लौट जाने को हरगिज तैयार न था, जहाँ से मैं आया था। अगर इस देश में कोई सक्रिय राजनीतिक आंदोलन या समाज निर्माण का जोशीला काम चल रहा होता तो डॉ० साहब मैं रूस से लौट आने के बाद कुछ और होता।'[146]

लखनऊ के मध्यवर्गीय समाज में लेखक की स्थिति भी आम स्थान के लेखकों की तरह ही है। फर्क इतना है कि लखनऊ के इस वर्ग को अपने शहर से लगाव है, उसके उत्थान-पतन की चिंता है। उनके रहन-सहन, खान-पान में लखनवी रंग झलकता है। 'अमृत और विष' के अरविंद शंकर जब बंबई जाते हैं तो उनके साथ उनका लखनऊ भी जाता है। उनकी इस स्थिति और सोच की चर्चा करते ही नागर जी ने लिखा है- "रियासती वातावरण के शहर में नवाबी लखनऊ के वाशिंदे के पास रिझाने के लिए बातें ही बातें थीं। लखनऊ के मुर्गमुस्ल्लम, टुंडे के नामी

कबाब, रूमाली रोटियों, आमों और रामआसरे की मिठाइयों तक का बयान ऐसा चटाखेदार और रसीला चला कि सब लोग बस मेरी तरफ ही बँधी टकटकी से देखते रहे। खाने की चीजों के साथ जुड़कर नवाब वाजिद अली शाह, उनकी तीन सौ साठ बेगमों, उनके जोगिये मेले और 'इन्दर-सभा' के जश्न, स्कॉच-व्हिस्की की तरलता में लफ्फाजी के नौरत्न बनकर मेरी बाणी पर चमकते चले।"[147]

'बूँद और समुद्र' के महिपाल और 'अमृत और विष' के अरविंद शंकर में कोई बड़ा फर्क नहीं है। दोनों निम्न-मध्यवर्ग से आते हैं, दोनों की आय का स्रोत लेखन ही है। दोनों में त्याग और बलिदान की भावना है। दोनों को मध्यवर्ग और शिक्षित लोगों की समस्याएँ परेशान करती हैं। अंतर केवल एक है। अरविंद शंकर वंशगत मध्यवर्गीय परिवार में जन्मा हुआ लेखक है। इसलिए उसमें जुझारूपन अधिक है, जबकि महिपाल का बचपन धन और वैभव के बीच गुजरा था। दोनों लेखकों को पूँजीपतियों से चिढ़ है, उनकी शोषण नीति का विरोध करते हैं, लेकिन अवसर आने पर अरविंद शंकर जहाँ अपने को पूजीपतियों की जीवन-शैली से बचा ले जाता है, वहीं महिपाल उन सुख-सुविधाओं के बीच फँसकर रह जाता है। सुविधा मिलने पर वह अपने पुराने पूँजीपति मित्र प्रकाशक मित्र का आश्रय लेता है, उसके साथ मिल-जुलकर काम करता है, उसका साहित्यिक सलाहकार हो जाता है, जिसका कभी वह लगातार विरोध करता था। इसके बाद उसकी जीवन-शैली में आए परिवर्तन की चर्चा करते हुए नागरजी ने लिखा है- "महिपाल के घर में इस समय अनेक परिवर्तन हो चुके हैं। यत्र-तत्र वैभव का चमत्कार फैल रहा है। महिपाल की छोटी-सी बैठक से पढ़ने-लिखने का सामान, मेज, कुर्सी, स्टूल, फाइलें वगैरह गायब हो चुकी थीं। आर्ट स्कूल से आए साँची शिल्प की डिजाइन वाले सोफा-सेट, तखत पर बड़ी-सी छपी हुई चादर, वहीं के पर्दे, ऐश-ट्रे, टेबुल-लैम्प, तश्तरी, बुद्ध आदि ने मिलकर महिपाल की साहित्यिक बैठक को न जाने कहाँ बिलमा दिया था।"[148]

'महिपाल आज पूर्ण रियासती भाव में था- बढ़िया चप्पल, उम्दा चुन्नटदार धोती, रेशमी कुर्ता, रेशमी जवाहर जैकेट, फावरेल्यूबा की घड़ी, शेफर्श की सुनहरी कलम, हाथ में पुखराज की अंगूठी।'[149]

अरविंद शंकर अपने सिद्धांतों के साथ इस तरह का कोई समझौता नहीं करता है। ऐसा नहीं कि उसकी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी है बल्कि; उसके घर का खर्च भी लेखन के बल पर

ही चलता है। कहीं से इनाम मिलता है तो उसकी आधी से अधिक राशि पुराना कर्ज़ चुकाने में समाप्त हो जाती है।[150] उसका संपूर्ण जीवन आंतरिक और बाह्य संघर्षों में बीतता है। एक तरफ वह अपने पात्रों से जूझता है तो दूसरी तरफ पूँजीवादी समाज के उन लोगों से, जो लेखक को दो कौड़ी का आदमी समझते हैं, त्यागी, बलिदानी और स्वयंसेवी कहकर उसे निराश्रित कर देना चाहते हैं- "सेठ हरपाल दास को उस जमीन की जरूरत है, इसलिए आपको अपना समझकर ही उन्होंने आपकी जमीन ले ली है।...आप तो समाजवादी हैं, आपको जमीन की आवश्यकता नहीं है और उन्हें है, इसलिए उन्हें ले लेने दीजिए। आप तो महान आत्मा हैं, इतनी उदारता तो दिखला ही दीजिए।'[151]

इसी प्रकार महिपाल भी कई जगह अपने अधिकारों के लिए लड़ता है, लेकिन अपना इस्तेमाल होने से बचा नहीं पाता है। यह दूसरी बात है कि जहाँ उसके 'अहं' को संतुष्टि नहीं मिलती है, वहाँ विरोध करता है। वस्तुतः दोनों लेखक अपने-अपने स्तर पर विवश हैं, असहाय हैं। इसमें अरविंद शंकर का चरित्र अधिक विराट है। वह अपने सैद्धांतिक मूल्यों की आहुति देकर किसी भी स्तर पर समझौता नहीं करता है। यही कारण है कि उसका संपूर्ण जीवन आर्थिक परेशानियों के बीच से गुजरता है। दोनों की पत्नियाँ चाहती हैं कि उनके घर में भी खुशहाली हो, बच्चे अच्छा कपड़ा पहने, बच्चियों की शादी अच्छे घरों में हो जाए। इसके लिए वे अपने पतियों पर झुँझलाती भी हैं, लेकिन अरविंद शंकर की पत्नी जहाँ इस झुँझलाहट को अपने तक सीमित रख कर पति को चिंताओं से मुक्त रखती है, वहीं महिपाल की पत्नी कल्याणी बराबर उससे बहस करती है।[152] वस्तुतः दोनों लेखक तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों से प्रभावित हैं तथा उनका मानना है कि सामाजिक-जीवन को विकृत करने में राजनीतिक परिवेश का महत्वपूर्ण योगदान है।

लखनऊ के सामाजिक जीवन को अवसरवादी राजनीति ने काफी विकृत किया है। नवाबीकालीन पतनशील-समाज की जिम्मेदार भी ये विकृत राजनीतिक नवाबों ने विलासिता में डूबकर लगातार उनके (जनता) हितों की उपेक्षा की। अंग्रेजी काल में यह स्थित बदली, गदर के बाद लखनऊ के जन-जीवन में जो अस्थिरता आई थी, वह धीरे-धीरे समाप्त होती गई। लोगों का संपर्क आधुनिक युग से हुआ। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार से उनमें राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ। उसी दौरान उन्हें अपने गौरवमय अतीत का बोध हुआ। परिणामत: धीरे-धीरे लोगों में राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ। नवाबी काल की खड़यंत्रपूर्ण राजनीति ने, राष्ट्रीय चेतना का

जामा पहनकर स्वदेशी आंदोलन का रूख अख्तियार किया। देश आजाद हुआ। आजादी के बाद अन्य जगहों की तरह लखनऊ की राजनीतिक परिस्थितियों में भी बदलाव आया। सत्ता पर केंद्रित राजनीति ने नैतिक मूल्यों को तिलांजलि दे दी। राजनीति के जो आदर्श स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान निर्मित हुए थे, उसे अवसरवादी राजनीति ने भ्रष्ट कर दिया।[153] समाजवादी विचार से पनपी राजनीतिक चेतना, पूँजीवाद की पोषक बन गई।....जनता इस पूँजीवादी समाज के बीच पिसकर रह गई।....राजनीति पूँजीपतियों के लिए इस्तेमाल की वस्तु बन गई।[154] लखनऊ की युवा पीढ़ी को इस विकृत राजनीति ने सर्वाधिक नुकसान पहुंचाया,....जबकि ये राजनीतिक आपस में मिलते हैं, बातचीत करते हैं, हँसी-मजाक करते हैं, आड़े वक्त एक-दूसरे के काम आते हैं।[155]

वास्तव में लखनऊ का सामाजिक जन-जीवन, आम भारतीय समाज की तरह ही है। फर्क इतना है कि नवाबी काल में पनपी विलासिता की संस्कृति ने इसे एक नया रूप देकर नागरिक सभ्यता के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान दर्ज किया। बेफिक्री में जीता यह समाज बदलते हुए समाज, समय के साथ बहुत हद तक चल नहीं पाया। यही कारण है कि आज भी चौक या लखनऊ के किसी कोने में आपको कई ऐसे लोग मिल जाएँगे, जो अब भी नवाबी काल में जी रहे हैं। उनका कोई स्थाई आर्थिक आधार नहीं है, और ना ही उन्हें इसकी चिंता भी है। अमृतलाल नागर ने अपने कथा साहित्य में इसी समाज के माध्यम से लखनऊ के सामाजिक जन-जीवन को चित्रित करने की कोशिश की है। इस क्रम में उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा के कारण, सामाजिक जन-जीवन में आते जा रहे परिवर्तन को रेखांकित किया है। परन्तु वह यह भी महसूस करते थे कि जीवन में आ रहे इस बदलाव के बावजूद लखनऊ के निवासियों को अपने खान-पान, रहन-सहन बोल-चाल, पहरावा आदि से मोह है। 'करवट' का बंशीधर टंडन अंग्रेजों के संपर्क में रहने के बावजूद उनकी जीवन-शैली के बीच अपने को 'अटपटा' महसूस करता है तथा उसे उतना ही अपनाता है, जितना कि उसे अपना लगता है। 'बूँद और समुद्र' के पात्रों के साथ ऐसी समस्याएँ नहीं हैं। वे बदले हुए लखनवी समाज के चरित्र हैं तथा उनका सामाजिक जन-जीवन भी भारत के किसी भी मुहल्ले और शहर की तरह ही है। फर्क इतना है कि वे अपने साथ लखनवी विशेषताएँ लिए हुए हैं, जिसकी ओर नागरजी ने बार-बार अपने कथा साहित्य में इशारा किया है। उनकी जीवन-शैली पर स्पष्टत: नवाबी संस्कृति का प्रभाव है, जो लखनऊ की सामाजिक जन-जीवन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है।

१.३ अमृतलाल नागर के कथा साहित्य में लखनऊ का

सांस्कृतिक जन-जीवन

भारतीय इतिहास में लखनऊ का महत्व बतालाते हुए अमृतलाल नागर ने अपने एक साक्षात्कार में कहा है- 'इतिहास में लखनऊ की जब चर्चा होती है तो सीधा ध्यान नवाबों की ओर जाता है। लेकिन यहाँ नवाबों का शासन कुल १३६ वर्षों का रहा है। जहाँ तक नवाबों की बात हैं, उन्होंने लखनऊ को अपनी विलासिता से क्षीण ही किया। हाँ, एक विशेषता जरूर थी। मुसलमानी काल में इस देश में प्रधानता सुन्नियों की ही रही है। शिया संप्रदाय के मुसलमान उनसे दबे हुए रहे। सआदत खाँ से यहाँ शिया का प्रभाव बड़ा और यह नगर शियानगर हो गया। तो स्वभाविक रूप से शियों ने, जो एक हद तक सुन्नियों के गुलाम थे, आजादी पाई, और हिंदुओं के निकट आना शुरू किया। इसलिए यहाँ हिंदू-मुस्लिम दंगे कम हुए। वस्तुतः "लखनऊ में जातियाँ अलग-अलग हैं, लेकिन लोग एक ही हैं। एक ही उनकी संस्कृति है और इन्हीं सांस्कृतिक मूल्यों को मैं उभारना चाहता हूँ।"[191] और नागरजी ने यही किया भी। उन्होंने अपने संपूर्ण 'कथा-साहित्य' में लखनऊ के सांस्कृतिक जन-जीवन को रेखांकित करते हुए, हिंदी साहित्य में उसकी पहचान स्थापित की। चाहे वह 'शतरंज के मोहरे' हो या 'बूँद और समुद्र', 'करवट' हो या 'पीढ़ियाँ', 'अमृत और विष' हो या 'हम फिदा-ए लखनऊ' सभी कृतियाँ लखनऊ की सभ्यता और संस्कृति का जीवंत रूप प्रस्तुत करती हैं।

जहाँ तक संस्कृति का सवाल है, वह एक प्रतीकात्मक शब्द है। जो किसी विशेष जाति के विकास और उसकी परंपरा की द्योतक होती है। 'मानवशास्त्र' में इसका अर्थ 'समस्त सीखा हुआ व्यवहार' माना गया है, अर्थात वे सब बातें जो हम समाज के सदस्य होने के नाते सीखते हैं।....श्यामाचरण दुबे ने 'मानव और संस्कृति' में लिखा है कि 'किसी समूह के ऐतिहासिक विकास में जीवन-यापन के जो विशिष्ट स्वरूप विकसित हो जाते जाते हैं, वे ही उस समूह की संस्कृति हैं।'[157] श्यामाचरण दुबे का यह कहना गलत नहीं हैं क्योंकि; लखनऊ में जो भी संस्कृति पनपी और परवान चढ़ी, उसमें भी यह विशेषता मौजूद थी। वहाँ के हिंदुओं और मुसलमानों ने विभिन्न संप्रदाय के होते हुए भी परस्पर मिलजुलकर एक गंगा-जमुनी संस्कृति प्रवाहित की। यद्यपि वहाँ के नवाब मुसलमान थे, लेकिन वे हिंदुओं के प्रति बहुत सहिष्णु थे, जिसके कारण दोनों संप्रदायों में काफी मेल और सद्भावना रही। उसके पूर्व की स्थिति की चर्चा करते हुए 'अमृत

और विष' में नागरजी ने लिखा है कि- "चोदहवीं सदी में इसी लखनऊ शहर में कोई हिन्दू खुलेआम अपने धर्म को सच्चा नहीं कह सकता था। धर्म केवल इस्लाम ही सच्चा था।....लेकिन नवाबों के आने के बाद लखनऊ में यह स्थिति बनी कि हिंदू भी सार्वजनिक रूप से अपने उद्गारों को व्यक्त कर सके। 'अमृत और विष' का पात्र, लेखक अरविंद शंकर भी इस बात को स्वीकार करता है- "इसी काल में एक सांस्कृतिक समन्वय भी अपने ढंग से होता रहा। मुसलमानों ने हिंदुओं के अनेक रीति-रिवाज अपनाये। हिंदू भी दरगाहों और पीरों को मानने लगे। देवी और हनुमान के संबंध में किसी कारण मुसलमानों में यह धारणा बैठ गई कि वे बड़ी जागृत शक्तियाँ है। चेचक लिए खास तौर पर हिंदुओं की शीतला माता मुसलमानों में पूज्य हुई। आँखे दुखने पर मुसलमान लोग बोतलों में कालीजी का नीर भरकर ले जाते थे। मंगल के दिन उन्हें बन्दरों, बच्चों और भिखमंगों को गुड़धानी बाँटते हुए भी मैंने अपनी जवानी के प्रारंभिक दिनों तक अनेक बार देखा था। अवध में अनेक हिंदू लोग अपने घरों में ताजिये रखकर, उनके सामने मरसिए पढ़ते थे। हिंदू स्त्रियों और पुरुषों पर उनके देवी-देवताओं और ब्रह्मराक्षसों के अलावा सैयद भी आने लगे थे। अवध के बनियों में शेख-सादी की भी बड़ी महिमा थी। अनेक हिंदू मुहल्लों में जगह-जगह सैयद के आले देखने को मिलते थे, जिन पर रेवड़ियाँ, इत्र की फुरहरियाँ और धूप, लोबान, फूलों का सेहरा, पैसा आदि चढ़ाए जाते थे, जिन्हें मुस्लिम फकीर ही उठा लेने के अधिकारी थे।"[158]

इस प्रकार, हिंदू-मुस्लिम एकता लखनऊ के सांस्कृतिक जन-जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता रही हैं।

लखनऊ के सांस्कृतिक जन-जीवन का चित्रण करते हुए नागर जी ने अपने कथा-साहित्य में उन सारे पक्षों पर ध्यान दिया है, जो संस्कृति के अनिवार्य तत्व माने जाते हैं। इसके लिए उन्होंने नवाबी काल से लेकर स्वातंत्र्योत्तर लखनऊ के समाज को उठाते हुए उनके समस्त क्रियाकलापों को रेखांकित किया है। लखनऊ के लोग कैसे रहते हैं, क्या पीते हैं, क्या पहनते हैं, उनके शौक क्या-क्या हैं?- ये सारी बातें 'शतरंज के मोहरे', 'करवट', 'पीढ़ियाँ', 'बूँद और समुद्र' और 'अमृत और विष' आदि में उभरकर सामने आती है।

भारत में विभिन्न धर्मों को मानने वाले लोग हैं। इसी धर्म के अन्तर्गत मनुष्य के जीवन की नैसर्गिक भावनाएँ एवं आध्यात्मिक क्रिया-कलाप सभी आ जाते हैं। धर्म कभी भी ईश्वर के द्वारा

बनाए गए नियम एवं नैतिकता के विरुद्ध नहीं जा सकता है। धर्म के विभिन्न स्वरूप होने के बावजूद उसका रूप एक ही रहता है।

लखनवी संस्कृति अपनी प्रमुख विशेषताओं के कारण सम्पूर्ण भारत में प्रसिद्ध है, लखनऊ के सांस्कृतिक जन-जीवन की समस्त क्रियाएँ, व्यवस्थाएँ तथा साधनाएँ अपने निश्चित रूप विधान से संचालित होती है। अमृतलाल नागर ने अपने कथा-साहित्य में लखनऊ के सांस्कृतिक जन-जीवन का चित्रण अपने स्वाभाविक रूप में वर्णित किया है।

(१.) धार्मिक जन-जीवन :

भारतीय संस्कृति की तरह लखनऊ-संस्कृति का भी धर्म से गहरा संबंध है। नवाबी काल से लेकर आधुनिक काल तक लोगों ने 'धर्म' को जीवन का अनिवार्य अंग मानते हुए उसे विविध रूपों में स्वीकार किया है लेकिन, लखनऊ वासियों के लिए धर्म सांप्रदायिक वैमनस्य का नहीं, बल्कि एकता का प्रतीक है। गदर के पूर्व के लखनऊ नवाबों ने कई ऐसी धार्मिक परंपराओं की शुरुआत की, जिसका बाद में लखनऊ के जीवन पर गहरा असर पड़ा। 'शतरंज के मोहरे' की बादशाह बेगम, हिंदू धर्म का केवल आदर ही नहीं करती हैं बल्कि; इस्लाम में उसे अहमियत प्रदान करते हुए, हिन्दू-इस्लाम एकता का आदर्श भी उपस्थित करती हैं। बावजूद इसके 'वे कट्टर शिया थीं' तथा 'हज़रतअली और बेगम फातिमा में उनके प्राण बसते थे।'....उन्हें इस बात पर आश्चर्य होता था कि 'उनका प्रेम वैसा लौकिक और पारलौकिक चमत्कार नहीं प्रकट कर पाता' है, 'जैसा कि हिन्दू अपने कन्हैया जी के प्रति प्रकट करते हैं।....इसीलिए उन्होंने भी जन्माष्टमी की तरह इमाम मेंहदी की 'छठी' मनाना प्रारम्भ कर दिया। उनके द्वारा आयोजित इस छठी में 'शाही खानदान की तमाम औरतों आतीं, झांकी सजती, नाच-गान होता, खैरात बँटती और बड़ा जश्न होता था।....इतना ही नहीं, उन्होंने अपने महल में इस्लाम संगठन के बारहों इमामों के रोजे बनवाए थे, जिन्हें 'रोज-ए-दोवाज्दा इमाम' कहा जाता था। 'इस रोजे में जरी रखी गई थी और हिंदू मंदिरों में देवता को अर्पित देशवासियों की भाँति हर इमाम के लिए एक-एक पत्नी भी उन्होंने अर्पित की थी। इन इमाम पत्नियों को 'अछूती' कहा जाता था।[159] बादशाह बेगम की तरह नवाब नसीरुद्दीन हैदर की भी धर्म में आस्था थी तथा उन्हें भी इमाम का पूरा विश्वास था। उन्होंने अपनी सौतेली माता द्वारा चलाए गए धार्मिक सुधारों को मान्यता तो दी ही, साथ ही एक नया चलन और भी जोड़ा। बारह इमामों की जन्मतिथियों के दिन, वे खुद भी नारी का वेश

धारण कर नख-शिख सोलह-श्रृंगार सजकर, सोने की जड़ाऊ पलंग पर ठोस सोने की छोटे बच्चेनुमा इमामों के पुतले अपनी जन्मतिथियों के अनुसार बारी-बारी से लिटाकर, इमामों की माता होने का गौरव प्राप्त करते थे। उनके इस जीवन का उल्लेख करते हुए 'शतरंज के मोहरे' ने नागर जी ने लिखा है- 'खुद शायद नसीरुद्दीन हैदर जब विभिन्न इमामों की जन्मतिथियों पर स्त्री बनने का स्वांग रचते थे, तब उन्हें जच्चाखाने में दाई के सिवा कोई छू भी नहीं सकता था।...छठे दिन इमाम माता बने नसीरुद्दीन हैदर का पहला सौरी नहान पड़ता, सोने के बच्चे को भी नहलाया जाता, बधावा बजता, सोहर गाये जाते। सारे शहर में त्यौहार जैसा मन जाता था।...जच्चाखाने से बाहर निकलने की रस्म पूरी होने पर दूसरे दिन नसीरुद्दीन बेशकीमती जनानी-पोशाक में सोने की शिशु की प्रतिमा लिए, बहुमूल्य सजी हुई पालकी में पूरी तड़क-भड़क के साथ नगर-भ्रमण करता था। जच्चाखाने में रहने का कोई निश्चित नियम न था, छठे दिन, कभी आठवें दिन, दसवें, बारहवें जिस दिन इमाम माता बने हुए बादशाह को मौज आ गई, उसी दिन सौरी का खेल समाप्त हो जाता।'

....शाही खानदान के इस जीवन का दरबार से जुड़े लोगों पर गहरा असर पड़ा। एक तो दरबार की इस चलन के कारण, लखनऊ के बहुत से खुशामदी दरबारी रईसों के घरों में अछूत-अछूतियाँ रखी जाने लगीं तथा दूसरे कई रईस बादशाह की नकल करते हुए औरत का भेष धारण करने लगे। इतना ही नहीं, 'बहुत से लोग तो स्त्रियों का मासिक धर्म-पालन ढोंग निबाहते थे।'[160] स्पष्टत: यह एक पतनशील मुस्लिम संस्कृति थी, जिसका लखनऊ के लोगों पर दो तरह से असर पड़ा। एक तो दरबार से जुड़े लोग बादशाह की खुशामद में इस संस्कृति का अनुसरण करते हुए उसमें शामिल हो गए। दूसरे-- लखनऊ की जनता, जिसे दरबार से कुछ लेना-देना नहीं था, उनकी अच्छाइयों को स्वीकारते हुए लखनऊ में हिंदू-मुस्लिम समन्वयात्मक संस्कृति का विकास किया।

(२.) पर्व, त्यौहार और मेले :

बादशाह बेगम और नसीरुद्दीन हैदर ने लखनऊ में इस्लाम की चली आ रही परंपराओं में कई फेरबदल किए, जिसका रूढ़िपंथी मुस्लिम समाज ने तीव्र विरोध किया। खासकर इमाम की छठी मनाने की परंपरा या अछुतियाँ रखने के चलन आदि का लेकिन, उन पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इस्लाम की परंपरा के विरुद्ध बेगम मुहर्रम में भी पहले दिन हजरत अली और

उनकी पत्नी हजरत फातिमा के पुतले को सजावट के साथ पलंग पर एक साथ लिटातीं। उनका निकाह करतीं, लोग उन्हें नजरें पेश करते। इस दौरान लोग बा-अदब हाथ बाँधे खड़े रहते, फातेहा पढ़े जाने के बाद सबको मिठाई तकसीम होती।'....इतना ही नहीं, 'बादशाह बेगम के प्रभाव से तथा मीर एहसान अली मर्सियाओं की सिफारिश से धार्मिक मातम के दिन मुहर्रम के पहले दस दिनों तक ही सीमित न रहकर चालीस दिन तक, चेहल्लुम तक बढ़ा दिए गए थे। बादशाह बेगम ने यहाँ तक आदेश निकलवा दिया था कि इन चालीस दिनों में शहर में कोई शादी -ब्याह न हो, खुशियाँ न मने और सारी प्रजा शोक मनाये।'....यद्यपि अंग्रेजों ने बादशाह बेगम के इस आदेश का विरोध किया, लेकिन नसीरुद्दीन हैदर की आज्ञा से आदेश लागू रहा। इसके बावजूद लखनऊ की जनता मुहर्रम का त्यौहार चहल-पहल से मनाती। इमामबाड़े में रोशनी होती, ताजिए निकलते। शहर में चारों ओर खुशियाँ छा जातीं, लोग इस अवसर के लिए जीवन की चर्चा करते हुए नागरजी ने लिखा है- "मुहर्रम का महीना लगा, हर जगह ताजियों-मर्सिओं और मजलिसों का बोलबाला हुआ। मुसलमान स्त्री-पुरुष काले, सब्ज और ऊदे रंग के कपड़े पहनकर शोक के रंग में रंगे हर तरफ दिखलाई पड़ने लगे। लड़कियाँ मैंके बुला ली गईं, नाचते-गाते, पास-पड़ोस की औरतों में बुलावे जाने लगे। हरे रंग के कुर्ते पहने बच्चों में घर-घर गोटे के लिए धूम मचने लगी। गरीब से बड़े-बड़े मुसलमान अमीरों के घर तक साल भर के त्यौहार की चहल-पहल मची हुई थी।'[161] लखनऊ में होने वाले इस मोहर्रम के ताजिए, मर्सिए और इमामबाड़े की रोशनी को देखने के लिए दूर-दूर से लोग आते थे।'[162]

'करवट' उपन्यास में अमृतलाल नागर ने इस बात की ओर संकेत किया है कि वाजिदअली शाह के शासनकाल में लखनऊ के सांस्कृतिक जीवन में कई तब्दीलियाँ आई। 'इंद्रसभा' की शुरुआत उन्हीं के जमाने में हुई, जिसमें कहीं भी लोग दो चादरें टांगकर चौकियाँ सजाकर नाटक करने लगते थे।[163] इसमें गोमती पार की 'इंद्रसभा' सर्वाधिक मशहूर थी।[164] उनके शासनकाल में ही कैसरबाग में साल भर में एक शानदार मेला लगता था, जिसमें वे खुद कृष्ण-कन्हैया बन जाते हैं तथा अपनी बेगम को गोपियाँ बनाकर रासलीला करते थे। जनता को भी इस में आने की पूरी छूट थी, बशर्ते वह गेरुआ वस्त्र पहनकर आए। लखनऊ के लोग शिवरात्रि का पर्व भी धूमधाम से मनाते। इसमें 'धार्मिक आस्था से शिवरात्रि का उपवास और जागरण-व्रत करने वाले हिंदू घरों में लोग दूसरे दिन भोग लगाते। पहले जोगियों को खिलाते, फिर घर के लोग भोजन करते।'[165]

वाजिदअली शाह के शासनकाल में एक और महत्वपूर्ण बात हुई- 'वह थी हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियाँ मिलकर शहर को नई चेतना दे गई। होली, दिवाली, मुहर्रम समान रूप से नगर के त्यौहार बने।'[166] इसलिए जब लखनऊ में यह खबर फैली कि वाजिदअली शाह को गद्दी से उतारा जा रहा है, तो लखनऊ के लोगों का दिल बैठ गया। उस समय के लखनऊ के लोगों की मन:स्थिति की चर्चा करते हुए 'करवट' में नागर जी ने लिखा है - 'होली आई, पर न आई जैसी ही रही। अवध का ताजदार बादशाह अपने दिल की धड़कनों से परेशान बिस्तर पर पड़ा है...शहर में हर एक का मन फीका है, फिर रंग कैसे खेला जाए? न कहीं झाँझ करतारलों की गूँज न अर्र-र -र-र-र कबीर, न 'फागुन में बाबा देवर लागे' जैसे लोकगीतों की गूँज। बसंत में जगह-जगह मशहूर नाचने वालियों को बुलाकर रईस लोग घर में बसंत की महफिलें हर साल कराते थे, लेकिन इस बार उनका भी जिक्र न था। हाँ, घरों में त्यौहार की रस्म अदायगी अवश्य हुई।[167]

परन्तु सामान्य अवसरों पर लखनऊ के लोग होली का त्यौहार उल्लास के साथ मनाते थे। 'जगह-जगह रात में होली की टोलियाँ बैठकर ढोलक-ढपलियों के साथ मस्ती में होलियाँ गाने' लगती थीं- 'अवध में होली खेले रघुवीरा' और इसके साथ-ही-साथ कहीं-कहीं बड़े ही अश्लील गीत और अ र र, से र र कबीर भी गाये जाते थे...जगह-जगह चबूतरों पर या गोमती के घाटों पर भाँग की सिलें जमी हुई थीं। चार-चार, पाँच-पाँच घंटों की जोरदार रगड़ाई से भाँग ऐसी बारीक पिस जाती थी कि सुरमा उसके आगे दरदरा लगे। दारू-ताड़ी के शौकीन होली के दिनों में प्रायः मस्ती से अधिक बदमस्ती में आने के लिए अधिक नशा कर लेते और लड़खड़ाते, डगमग डोलेते, चलती महरियों, मालिकों, मेहतरानियों से छेड़-खानियाँ करते बहकते फिरते थे।'....लखनऊ की इस होली में एक और विशेष बात होती। कभी-कभी नवाबी-संस्कृति, वहाँ के रईसों के जीवन की गति को एक विशेष दिशा में बहा ले जाती। इसकी चर्चा करते हुए 'करवट' में अमृतलाल नागर ने लिखा है- "यों तो इस मौसम में हर साल चित्रकार लोग छोटे-छोटे कामोत्तेजक मिथुन चित्र बनाकर अपने अमीर ग्राहकों को बेचा करते थे, जिन्हें वे रईस अपनी-अपने स्त्री-पुरुष मित्रों को ऋतु की भेंट स्वरूप दिया करते थे। लेकिन इस साल जब्बार फोटोग्राफर ने बड़ी मेहनत और तरकीब से मशहूर तवायफों और रईसों के बीच हुए पुराने फोटोग्राफरें से उनके सिर काट-काटकर बने हुए मिथुन चित्रों में इस तरह से जुड़े थे कि लगता था कि उन्होंने ही ऐसे गंदे मिथुन चित्र खिंचवाए हैं। जब्बार की इस कारीगरी ने हिन्दू और मुसलमान दोनों हलको में बड़ा रस बरसा दिया था।'[168]

आजादी के बाद लखनऊ की इस होली में कोई खास परिवर्तन नहीं आया। हाँ युवाओं की सक्रियता और अधिक बढ़ गई। नवाबी-काल में नवाब से लेकर बड़े-बड़े दरबारी तक होली के रंग में रंग जाते थे। गदर के बाद भी बहुत दिनों तक यह स्थिति बरकरार रही। लेकिन लखनऊ के नए प्रशासकों को इस परंपरा से कुछ भी लेना-देना नहीं था- 'होली के यही पाँच दिन तो समाज का अनियंत्रित कर देते हैं- छोटे-बड़े सब एक रंग में रंग जाते हैं। बड़े-बड़े रईस और प्रतिष्ठितों के युवक भी फटेहाल और रंग-बिरंगे मुँह बनाए सड़कों पर दिखलाई पड़ जाते हैं। अनेक रंगों से खिलवाड़ करता हुए भी समाज एक रंग में रंग जाता है। गलियाँ, दीवारें, दरवाजे, कुत्ते, गाय, बैल, गधे, बकरियाँ सब रंगीन दिखलाई पड़ते हैं। गलियों के फर्श, दीवारें और लोगों की जबानों पर मदनरति का जोड़ा गाली बनकर अपने ब्रह्मानंद-सहोदर रूप को सस्ता बना देता है।'

....होली के रंगों के साथ ही अमृतलाल नागर के कथा-साहित्य में गालियों का रंग भी बहुत चढ़ा हुआ मिलता है। होली के दिन 'सफेद बुर्राक बालों वाले बूढ़ों से लेकर चार-चार, पाँच-पाँच बरस तक के बच्चे गालियों के नारे लगाते हुए लखनऊ की गलियों से गुजरते थे।....इस क्रम में 'सबसे आगे चलने वाला एक बूढ़ा मुहल्ले के- बिरादरी वालों के- किसी भी पुरुष का नाम लेकर सवाल उठाता- 'फलाना क्या?' और बूढ़े, जवान, लड़के, नंग-धड़ंग भी अपनी तोतली बोली में लिंग का लोक-प्रचलित नाम उच्चारते थे।'....होली के दूसरे दिन प्रतिपदा को नहा-धोकर मुहल्ले वाले चौराहे पर एकत्र होते, जहाँ काठ का एक विशालकाय लिंग पहले से ही प्रतिष्ठित रहता था। उस पर सिंदूर पोता जाता। वीर्य के प्रतीक के रूप में दही चढ़ाया जाता, फुलहार आदि अर्पित किया जाता। एक ब्राह्मण 'सुनो रे साथियों' के तर्ज पर मंत्र पढ़ना आरंभ करता, जिसमें लिंग की महिमा बखानी जाती थी। जब मुहल्ले में पुरुष या पास-पड़ोस की स्त्रियाँ आपस में झगड़ा करतीं तो रंडो, चोट्टी-छिनट्टी, निगोड़ी, चुड़ैल, खसौटी, लुच्चे साला-साली, रंडीबाज, भड़वे जैसी गालियों से लेकर भाड़ में जाए, लाख रुपए की आबरू, सत्तर खसम करना, 'सात जनम के दुश्मन' जैसी कहावतों का प्रयोग करतीं। इन गालियों के समाजशास्त्र की चर्चा करते हुए अमृतलाल नागर जी ने इस बात की ओर संकेत किया है- 'क्या नगर, क्या गाँव, क्या सभ्य, क्या असभ्य- गालियों का प्रयोग समाज-व्यापी है'।[169] इस क्रम में ब्रज और अवध दोनों ही क्षेत्रों में प्रचलित 'चलन खोरिया' और 'नकटौर' जैसी परंपराओं की चर्चा करते हुए नागरजी ने लिखा है- "अहीरों की छोहरियाँ चाँदनी रात में गोल बाँधकर गालियाँ गाती हुई गलियों में डोलती हैं। मेल

और बिरादरी के घरों के कुंडे खटखटाकर उनकी स्त्रियों से चिल्ला-चिल्लाकर रस-व्यस्तता के संबंध में प्रश्न करती हैं। यह होते हुए भी किसी का मजाल नहीं कि मुहल्ले का एक भी पुरुष, उन अहीर बालाओं की मस्ती में छेड़-छाड़ से व्याघात डाले या बोली-ठोली कसे। स्त्रियाँ किसी के घर किसी खास अवसर पर विशेष रूप से जब किसी के घर से बारात गई हो, एकत्र होकर आपस में रसाभिनय करती हैं।"[170]

होली के दिन से ही लखनऊ में 'आठो का मेला' लगता है, जिसमें लखनऊ के हर वर्ग के लोग भारी संख्या में भाग लेते। 'करवट' में अमृतलाल नागर जी ने इस मेले का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इस दिन बहुत सारे लोग सआदतगंज में शीतला माता को पूजकर मेहंदीगंज होते हुए टिकैत राय के तालाब की तरफ आते हैं। मुसलमानों में भी इस मेले को लेकर बड़ा उत्साह रहता है। आज से पचास-साठ वर्ष पहले, इस दिन यहाँ भाट-भाटिन का मेला लगता था, जिसमें कविता सुनाने वालों का दंगल होता था। अमृतलाल नागर जी ने लिखा है- "आसुफुद्दौला के दीवान राजा टिकैतराय का बनवाया हुआ बड़ा चौकोर तालाब, जिसके एक ओर शिवाला बना है और दूसरी ओर मस्जिद। तालाब के चारों ओर सैकड़ों दुकानें लगी है; कहीं पटा-बनेठी, गढ़ा, बिनवट आदि के दंगल हो रहे हैं, कहीं मुशायरों की वाह-वाह हो रही है। एक जगह कनात, शामियाने लगाकर भाटों का मेला भी हो रहा है, खयालगोई के दंगल हो रहे हैं, लोकगीतों का रंग जमा हुआ है।"[171]

'भाट-भाटिन के इस मेले में एक विशाल मंच पर कार्चोबी की गद्दी-मसनद लगाकर भाट राजा और रानी बैठते थे। राजा के सिर पर जरी का बड़ा शानदार सफा बँधा होता था तथा उसके हाथ में एक मोटा-सा लट्ठ होता था, जिसके ऊपरी सिरे पर एक गुड्डा बँधा रहता था।....खयालगोई के दंगल में एक कवि अपना 'कवित्त' सुनाता, जिसके जवाब में उसका प्रतियोगी कवि अपना 'कवित्त' कहता। दोनों में सवाल-जवाब होते-होते जंग छिड़ जाती। यह जंग इस बात पर होती कि किसका 'कवित्त' श्रेष्ठ है? जब यह जंग अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती तो उसे शांत करने के लिए भाटिन रानी अपना काव्यगान करने लगती। इस काव्यगान के जोश में कभी-कभी उनकी मूँछों पर से पल्ला हट जाता, जिसे देखकर सभा में 'आसमान फोड़' ठहाके गूँज उठते थे।'[172]

(३.) लखनऊ के लोकगीत :

आठो के मेले में होली के रंग की तरह, लोकगीत का रंग भी खूब जमता था। इन गीतों में अतीत से लेकर बदलते हुए जमाने तक का लोग ब्यौरा देते। किसी गीत में वाजिदअली शाह की मुसीबतों की चर्चा होती तो किसी में वसंतागमन की सूचना-

श्रीपत महाराज तुम विपत्ति निवारो

कब अइहैं हजरत देश हो....

जिस वक्त साहबना शहर लखनऊ लिया,

वाजिदअली, जो शाह था, कलकत्ता चल दिया[173]

इसी प्रकार-

डोलै है तमालपत्र पाँवड़े अवाई सुन गावत हैं गुणी

जन इत उत छाह के।

फूलि उठे कुंदेए मलिंद बेगचाय उठे, कूकि उठी

कोकिला कलापी चित्त चाह के।[174]

इस प्रकार से नागरजी ने अपने कथा-साहित्य में इन कविताओं और लोकगीतों के माध्यम से लखनवी-समाज और प्रकृति में आ रहे परिवर्तन की ओर संकेत किया है। 'बूँद और समुद्र' में भी प्रयुक्त लोकगीत बदलते हुए समय के साथ लखनवी फैशन में आ रहे परिवर्तन की सूचना देते हैं। उदाहरण के लिए उनका निम्नलिखित लोकगीत फैशन में 'किलिप', 'एरिंग' और 'नेकलिस' के आते ही 'बेंदी', 'झुमके' और 'हँसली' के जाने की सूचना देते हैं-

फूल गुलदस्ता खिला मेरी जान।

जब से चला है किलिप लगाना। कदर बेंदी की गई मेरी जान।।

जब से चला है ऐरिंग पहनाना। कदर झुमके की गई मेरी जान।।

जब से चला है नेकलेस पहनना। कदर हँसली की गई मेरी जान।।

....और इसी पंक्ति के बाद नागरजी लखनऊ की उस बिलासी संस्कृति की ओर संकेत करते हैं, जिसने लखनऊ की छवि ही बिगाड़ दी, भले ही इसे कुछ लोग वहाँ का 'कल्चर' कहके सम्मान की दृष्टि से देखें :

जब से चला है रंडी का रखना। कदर औरत की गई मेरी जान।।[175]

इन लोकगीतों में नागरजी ने लखनऊ के घरेलू जीवन में बढ़ते हुए अंग्रेजी-प्रभाव की ओर भी संकेत किया है- 'सदा तू तू न मुझको सुनाया करो, माई डियर कहकर बुलाया करो।[176]

वस्तुतः अमृतलाल नागर के कथा-साहित्य में प्रयुक्त ये लोकगीत इस बात की ओर संकेत करते हैं कि संस्कृति के क्रमिक-विकास के साथ-साथ मानव की काव्य-चेतना तथा अभिव्यक्ति का भी विकास होता है। यह गलत भी नहीं है क्योंकि; लोकगीतों का क्षेत्र ही अत्यंत व्यापक होता है तथा वह अपनी संपूर्णता में मानव-सभ्यता का इतिहास रचता है।

(४.) रीति-रिवाज, प्रथा-परंपरा :

लखनऊ की महिलाएँ विशेष अवसरों पर इन लोकगीतों को गातीं। वह कोई पर्व-त्यौहार हो या पारिवारिक-उत्सव। लखनऊ के पारिवारिक-उत्सव की चर्चा के क्रम में अमृतलाल नागर ने शादी-ब्याह से लेकर जन्मोत्सव-अंत्येष्टि तक का वर्णन किया है। किसी के घर में जब किसी बच्चे का जन्म होता तो घरवाले उल्लास से नाच उठते थे। एक-दूसरे को बधाइयाँ देते। 'करवट' में जब कौशल्या को पुत्र-रत्न की प्राप्ति होती है, तो कट्टो प्रसूति-गृह के बाहर फूल का छोटा थाल और कल्छुल लेकर फूल लेकर जोर-जोर से बजाने लगती है।....हकीमजी और राजसाहब बंशीधर दोनों एक-दूसरे को बधाइयाँ देते हैं।[177] लखनऊ में भी जन्म के छः दिन बाद लड़के की छठी मनाई जाती, जिसमें पास-पड़ोस की महिलाएँ इकट्ठी होती, गीत गाए जाते, खाना-पीना होता। 'बूँद और समुद्र' में मिस्टर वर्मा के पुत्र जन्मोत्सव पर ताई छठी-भोज देती है, जिसकी चर्चा मुहल्ले के लोग करते हैं।[178] इसमें नाते-रिश्तेदार भी भाग लेते और बच्चे की मंगलमय भविष्य की कामना करते। 'शतरंज के मोहरे' में भी अमृतलाल नागर ने नसीरुद्दीन हैदर के इमाम की माता बनने इमाम-माता बने नसीरुद्दीन हैदर का पहला सौरी नहान पड़ता, सोने के बच्चे को भी नहलाया जाता, बधावा बजता, सोहरें गाई जाती। छठी की रात को नसीरुद्दीन लाख रुपए के नारी-वस्त्राभूषण पहन मुस्लिम प्रथा के अनुसार सितारबीनी के लिए छत पर जाता। सोने का

बच्चा उसकी गोद में होता। 'कुरान शरीफ' सिर पर रखकर कुतुब तारे सलाम करता। इसके बाद पुतला सोने के जड़ाऊ हिंडोले में लिटा दिया जाता। लोग नजरें देने आते। सैकड़ों तरह के कीमती और लजीज खाने पकते और फतेहा पढ़े जाने के बाद बादशाह के प्रिय नवाबों-अमीरों तथा उनकी बेगमात में तक्सीम किए जाते थे।[179] इसके बाद बच्चे का नामकरण होता।

नवाबी दौर के लखनऊ में आमतौर पर कम उम्र में ही शादियाँ कर दी जाती थीं। 'करवट' के बंशीधर उर्फ तनकुन की शादी नौ वर्ष की आयु में ही नवाबगंज की चमेली से हो गई थी।....लेकिन अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार के बाद युवाओं में चेतना आई तथा कम उम्र में शादी करने से वे इन्कार करने लगे। बंशीधर का पुत्र देशदीपक टंडन और खुद उसके पिता भी, अठारह वर्ष की उम्र से पहले उसकी शादी नहीं करना चाहते हैं तथा इससे पहले उसकी राय लेना भी जरूरी समझते हैं।....देशदीपक टंडन भी अपने पैरों पर खड़ा हुए बिना शादी करने से इंकार कर देता है।....शादी तय करने के समय लड़की के माँ या पिताजी लड़के के यहाँ जाते, बात पक्की करते तथा इसके लिए लड़के के माँ-बाप को तरह-तरह से दहेज का लालच देते।....कभी-कभी दहेज कम देने के कारण, बात भी टूट जाती। मुसद्दीमल और मन्नो बीवी की शादी इसी दहेज के कारण नहीं हो पाई थी।[180]

बात पक्की होने के बाद निश्चित तिथि को लड़के वाले बारात लेकर लड़की के घर जाते। इस बीच और भी कई रस्में पूरी की जातीं। 'अमृत और विष' में इन रस्मो की चर्चा करते हुए अमृतलाल नागर ने लिखा है- "ब्याह के छः दिन पहले घर में हलदात्-रतजगे की रस्म पूरी हुई, गणेश नवग्रहों के सामने मन्नो को लेकर पूजा कराने बैठी, मंदिर वाले दालान में दीवार पर गेरू पोतकर ऐपन से थापे की चित्रकारी हुई, वहाँ 'ओलंग' चढ़ाई के गीत हुए, लड़की को ब्याह का कंगना बाँधा गया। दूसरे दिन से बाने के नहान पड़ने लगे। नाइन जौ पीसकर लाई, उसका उबटन बना। दही, तेल, मेहंदी, रोली, उबटन मिलाकर दुब मौली की कूँची से सात बार लड़की के पैरों, घुटनों, कंधों और माथे पर तेल चढ़ाया गया। स्नान हुआ फिर कुँवारे लड़के-लड़कियों ने मन्नो के ऊपर चँदोवा ताना। चँदोवे में मन्नो की माँ ने आटे-शक्कर की बनी सात 'पुलड़ियाँ' डालीं- फिर आरती हुई, 'मरवट' चिता गया। रोज-रोज बाने के नहानों की क्रिया संपन्न होने लगी। फिर मामा के घर से भात आया, मँढ़े का पूजन हुआ, रस्मों पर रश्में होने लगीं।'

....शादी-ब्याह में बारात आ जाने के बाद बरातियों और लड़की वालों में तरह-तरह के

संघर्ष होते, जिसका नागरजी ने विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। कभी बरातियों को सुविधाजनक जनवासे न होने को लेकर शिकायत होती- 'यह जनवासा दिया है सालों ने।....ये लखनऊ की कल्चर है, अपने मेहमानों को खंडहर से टिकाते हैं।'....तो कभी वर महोदय अपने मित्रों के रुख का समर्थन करते हुए विवाह-विषयक असहयोग-आन्दोलन की घोषणा कर देते- "सुन रहे हैं न आप? अनलेस एंड अनटिल आप इन लोगों के लिए कोई सुटेबुल अरेंजमेंट नहीं करते, तब तक मैं शादी के किसी भी काम में शरीक नहीं होऊँगा, बतलाए देता हूँ।"[181] इस मौके पर लखनऊ की भाँग काम आती, जिसे देखते ही समधी 'पंडित दीनानाथ के नेत्र में स्निग्धता आ' जाती और सारा मामला ठंडा हो जाता।[182] फिर जनवासे में ही 'बटहरी' का पूजन होता। 'वर को तिलक करके उसके पल्ले में जोड़ा इत्यादि दिया' जाता।....इसके बाद और भी रिस्में होतीं। दूसरे दिन दोपहर में लड़का 'कंगना' खेलने के लिए जाता, जिसे भावज पूरी करती।....फिर क्रमशः चबेनी, स्तुतिवाचन (विनती), बड़हार, सिरगूँथी आदि की रस्में होतीं।....सबसे अंत में दुलहा भट्टी को लात मारकर गिरा देता। 'अमृत और विष' में मन्नो का दुलहा राजकिशोर यह रस्म पूरी करता है।[183] इसके बाद लड़की की विदाई होती।

लखनऊ में मरणोत्सव मनाने का कोई अलग तरीका नहीं था। हिंदू-मुसलमान अपनी रीति -रिवाज के अनुसार यह काम पूरा करते थे। 'करवट' में नागर जी ने बंशीधर के घर की बड़ी ताई के निधन की चर्चा करते हुए इस उत्सव का वर्णन किया है। यह कार्यक्रम निधन के दसवें, तेरहवे या सत्रहवें दिन होता। इसकी चर्चा करते हुए अमृतलाल नागर जी ने लिखा है - "बड़ी ताई का विमान बना, मरघट तक के रास्ते में पैसे-मखाने लुटाए गए। अपनी बड़ी भौजाई की अर्थी के साथ में जुमानी भैए ने झैयम-झैयम बाजे बजवाए, शंख-घड़ियाल भी बजे। पोतों ने दादी के विमान पर मोर्छलें डुलाईं, सब काम पुरानी रीति से हुआ। रायसाहब अपने बड़े भाई की आज्ञानुसार पैतृक घर में ही रहे। दसवें के दिन उन्होंने भी खोपड़ी और मूँछें मुँड़वाई।"[184]

वर्ष में जिस दिन 'सराध' पड़ता, उस दिन जब तक 'उनके नाम के बाम्हन, बाम्हनियाँ नहीं खा लेते, तब तक घर में लोग खाना नहीं खाते। हिंदुओं में यह दिन बहुत पवित्र माना जाता है। लोग अपने पुरखों की याद में इस दिन उपवास रखते। 'करवट' का बंशीधर भी अपनी माताओं की याद में 'सराध' के दिन उपवास रखता है, तेल में तली हुई चीजें नहीं खाता है।....'करवट' की नई पीढ़ी इस प्रकार की परंपराओं की अवहेलना करती है। खोखा उर्फ देशदीपक टंडन भी इस

प्रकार की मान्यताओं का विरोध करता है।[185] लेकिन लखनऊ का मुस्लिम समाज ऐसा नहीं है। वह सारी परंपराओं और मान्यताओं को स्वीकारते हुए उसका पालन करता है। कुदसिया बेगम की मृत्यु के बाद नसीरुद्दीन हैदर शोक मनाता है तथा मेंहदीगंज की नई कर्बला में उसकी अंत्येष्टि क्रिया संपन्न करता है।[186]

(५.) वेशभूषा :

अमृतलाल नागर ने अपने उपन्यासों में लखनवी-वेशभूषा का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। उनके उपन्यासों में आए हुए पात्र, बदलते हुए समय के साथ अपना पहरावा भी बदलते जाते हैं। इसके बावजूद उन्हें अपने पुराने लखनवी पहरावे से लगाव है। उनके यह पात्र भिन्न-भिन्न अवसरों पर तरह-तरह के वस्त्र पहनते हैं। मुहर्रम के समय वे 'काले, सब्ज और ऊदे रंग के कपड़े पहने सोग के रंग में रंगे हर तरफ दिखलाई' पड़ते हैं।....मातमी के समय शुद्ध काले रंग की लिबास पहनते हैं।[187] आप लखनऊ की किसी भी गली में निकल जाइए, आपको 'लट्टूदार पगड़ी, चौगोशिया और गोटे की कामदार टोपियाँ, उलटे-पीछे लपेटे गए मूँड़ासे, रुई के सलूके, लंबे-लंबे चोगे पाजामे, धोतियाँ, अगोछे पहने, भरे पूस माह के जाड़े में भी खुली धूप का आनंद लेते हुए नंग-धड़ंग, लंगोटधारी सभी तरह के लोग' मिल जाएँगे।....युवाओं की पोशाक अलग होती। वे सफेद बुर्राक पायजामा, साफा और नए फैशन की कालरदार कमीज' पहनते।....'करवट' का बंशीधर जब कलकत्ता में नहा-धोकर सैर करने निकलता है तो अपनी लखनवी 'धोती अँगरखा, दुपट्टा और दोपल्ली और पैरों में घेंतली जूतियाँ' ही पहनता है।[188] बिना दोपल्ली टोपी पहने वह घर से बाहर नहीं निकलता है, जो कि लखनवी पहनावे की एक खास विशेषता है। कभी-कभी वह चूड़ीदार पायजामा भी पहनता है। उसे इस बात का दुःख होता है कि 'नैन्सी ने उसके पट्टेदार बाल काटकर छोटे कर दिए थे। अपनी देशी पगड़ी या दोपल्ली के साथ अगर सिर पर पट्टीदार जुल्फें ना हों तो इंसान ऐसा लगता है, जैसे अंग्रेजों के साथ घूमने वाला कटी दुम का कुत्ता।'....बंशीधर के लिए 'देश' भारत नहीं, बल्कि उसका अपना 'लखनऊ' है। वहाँ पंडित भी 'धोती, अँगरखा, दुपट्टा और पगड़ी' पहनते हैं तथा 'खिचड़ी मूँछें रखते हैं।.... लखनवी महिलाएँ भी 'धोती-चादर और ओढ़नी पहने हुए गली में ऐसी लहराते हुए चलती हैं कि जैसे पानी भरा हुआ चूता हुआ डोल दाएँ से बाएँ और बाएँ से दाएँ पानी की लकीरें बनाता हो।'[189] 'शतरंज के मोहरे' में लखनवी रंगत में रंगी एक बुढ़िया का वर्णन करते हुए अमृतलाल

नागरजी ने लिखा है-

"सफेद बालों पर मेहंदी, हाथों में मेहंदी, आँखों में सुरमा, टिकुली, मिस्सी, कानों में इत्र की फुरहरी, धानी दुपट्टा, गुलाबी-कुरता, सर पे झुमका, कानों में करनफूल, नाक में बुलाक, गले में तौकें, बाँहों में जोशन, हाथों में कड़े और चूड़ियाँ, उँगली-उँगली में अँगूठीयाँ, अँगूठी में आरसे, पाँवों में कड़े-छड़े, झाँझ - की मुनियाँ अपने ख्याल से उम्र के पैंसठवें साल में जवानी की देहली चढ़ रही थी।"[190] लेकिन वहाँ के सेठों, साहूकारों की पत्नियों का पहरावा या हाव-भाव इससे किसी कदर कम नहीं है।

यह तो एक दासी की वेशभूषा है, जो बादशाह गाजीउद्दीन हैदर के महल में काम करती थी - 'अपना पानदान लिए, जिस पर नीला मखमली जरदोजी का ढँकना ढका था, बड़े भारी-भारी सोने के गहने, पैरों में कड़े-छड़े, रेशमी पाजामा, जुर्राबें, जरी की चट्टियाँ पहने, पश्मीने का बेल कढ़ा कुरता पहने, उस पर लाल विलायती-मखमल की पोर-पोर जरदोजी का काम बनी बास्कट पहने, रेशमी दुलाई ओढ़े, पचास-पचपन के हेर-फेर की उम्र वाली वहीदन आकर लाला के तख्त पर बैठ गई।[191]

समय बदलने के साथ लखनऊ के पहरावे में फर्क आया। पढ़े-लिखे लोग बुशर्ट और पैंट पहनने लगे और महिलाएँ साड़ियाँ। 'बूँद और समुद्र' के लगभग सारे पात्र उपर्युक्त वस्त्र ही पहनते हैं, जबकि गदर पूर्व और बाद के समय पर केंद्रित 'शतरंज के मोहरे' और 'करवट' के अधिकांश पात्र, लखनवी वेशभूषा ही पहनते हैं।

(६.) खान-पान और मनोरंजन :

वस्तुतः यह लखनऊ के बदलते हुए समाज की बदलती हुई संस्कृति थी, जिसका सूक्ष्म निरीक्षण नागर जी ने अपने कथा-साहित्य में किया है। 'लखनऊ की खाऊ-पिऊ संस्कृति' की चर्चा अमृतलाल नागर जी के सभी उपन्यासों एवं कुछ कहानियों में है। इस खान-पान में लोग हलवा, इमरती, बालूशाही, जलेबी, कचौड़ी, बुनिया, गुलाबजामुन, आम का मुरब्बा, नवरतन चटनी, उड़द की पिट्ठी भरी परौंठियाँ, आलू की रसदार और घुइयाँ की सूखी तरकारियाँ, तरबूज का शरबत, मलाई की पूरियाँ, कुल्फी, पुलाव-पूड़ी, खीर आदि शाकाहारी भोज्य पदार्थों से लेकर बिरयानी, कोरमा जैसे माँसाहारी पदार्थों तक का इस्तेमाल करते हैं।[192] हिंदू परिवारों में गदर के

पूर्व अधिकांश लोग शाकाहारी थे। शौकिया तौर पर तंबाकू, पान, हुक्का आदि का भी प्रयोग करते थे।[193] रईसों और नवाबों में शराब पीने का सर्वाधिक प्रचलन था, जिसकी ओर 'शतरंज के मोहरे' में अमृतलाल नागर ने इशारा किया है।....इस शराब ने नवाबों को जनता से बहुत दूर कर दिया था। शराब और विलासिता में डूबकर उनकी जिंदगी गर्त हो गई थी।[194] 'बाँदियों के बेटे-बेटियों की शादियों में लाखों रुपए खर्च होते थे। बारात की सजावट, आतिशबाजी, खैरात, इनाम में शाही खजानों से पानी की तरह रुपया बहाया जाता।'[195] विलासिता का यह चरमोत्कर्ष नहीं तो और क्या था कि शाही कुत्ते को पंखा झला जाता, सिर पर बराबर केवड़ा छिड़का जाता, एक सेर रोज गुलकंद देने का आदेश दिया जाता।....दूसरी तरफ लखनऊ की जनता भूख और तरह-तरह के कर से परेशान थी। नवाब के पास की बेगमें थीं, जिनके रहन-सहन पर करोड़ों रुपए खर्च होते थे। शाही दावतों में लाखों रुपए पानी की तरह बहाये जाते। उनके शौक भी अजीब किस्म के थे। अपने मन की भड़ास निकालने के लिए तरह-तरह के जानवरों को लड़वाते थे। 'शतरंज के मोहरे' में अमृतलाल नागर ने नसीरुद्दीन हैदर के इसी प्रकार के एक शौक की विस्तारपूर्वक चर्चा की है। वह अपने मनोरंजन के लिए तराई के बुढ़ियार चीते और विलायती आदमखोर घोड़े की जंग करवाता है, जिसमें घोड़ा, चीता का जबड़ा तोड़ देता है। एक दूसरे चीते को वह मार-मारकर 'कुत्ता' बना देता है, जिससे उसकी एक आँख बेकार हो जाती है।'....नसीरुद्दीन को यह युद्ध देखकर एक नई ताजगी मिलती है तथा उसे महसूस होता है कि 'वह भी इसी तरह से अधिक शक्तिशाली शत्रुओं को मार भगायेगा। अपने विरोध में सिर तानने वालों को यों ही पछाड़ देगा।[196] इसी प्रकार लखनऊ की आम जनता भी अपने मनोरंजन के लिए तीतरों, मुर्गों, सपेरों, कबूतरों को लड़वाने के साथ-साथ कनकौवाबाजी भी करती। नागरजी ने लिखा है- "कनककौवाबाजों में मुहम्मद हादी, नवाब काजल, छोटे-बड़े आगा, फत्तन साहब, बाबू भसड़े, लाला बेलीमल के नाम जवाहरलाल, सुभाष चन्द्र बोस और सरदार पटेल की तरह मशहूर थे। लाला मुन्नेलाल कागजी ने तो पंचखड़ी इमारत इसलिए बनवाई थी कि दिखावा अच्छा रहे, पेच लड़ाने में सुभीता हो।

"लखनऊ के कला, साहित्य और सांस्कृतिक कार्यक्रमों की चर्चा के क्रम में अमृतलाल नागर ने लिखा है- 'गोमती पार की इन्दरसभा मशहूर थी।'....इंन्दरसभा एक गीत-नाट्य है, जिसकी रचना लखनऊ के प्रसिद्ध शायर अमानत लखनवी ने अगस्त १८५२ में की थी तथा जनवरी, १८५४ में पहली बार इसका मंचन हुआ। इस गीत-नाट्य में अमानत लखनवी ने गायन

के साथ-साथ रामलीला, रासलीला, भड़ैती, स्वांग, दास्तानगोई, मर्सिया आदि का मिश्रण किया है। लखनऊ के लोग बड़े चाव से गोमती पार की इन्दरसभा देखने जाते थे। शेरो-शायरी भी यहाँ सबका आकर्षण था। राह चलते, पान खाते, सभा-सोसायटी जहाँ भी मौका लगता, लोग शेरो-शायरी में अपनी बात कहने लगते थे। ख्यालबाजों में लखनऊ के कलँगी वाले सरनाम थे। शंभू शायर, खड़ी के घराने के बाबा मायाराम और हाफिज अहमद अली जहाँ चंग लेकर बैठ जाएँ, वहाँ तिल रखने की जगह नहीं मिलती थी।'....'कहीं नाच होता तो लोग बिंदा-कालकादीन की जोड़ी को याद करते थे। तवायफें बिंदा महाराज का नाम लेकर पैरों में घुँघरू बाँधती थी।....लखनऊ वालों में एक ही ऐब था, जिसकी चर्चा करते हुए अमृतलाल नागर जी ने एक शेर उद्धृत किया है -

"खुदा आबाद रक्खे लखनऊ को फिर गनीमत है -

नजर कोई न कोई अच्छी सूरत आ ही जाती है।"[197]

अमृतलाल नागर ने अपने कथा-साहित्य में लखनऊ का केवल बिलासी और रसिक रूप ही नहीं दिखलाया है बल्कि; उसकी जुझारू संस्कृति का भी विस्तारपूर्वक चित्रण किया है। यह सही था कि विलासिता में डूबकर लखनऊ के नवाब सारी मान-मर्यादाओं से परे उठ गए थे तथा राह चलते जो भी सुंदर-स्त्री पसंद आ जाती उसे प्राप्त करने की साज़िश तक किया करते थे लेकिन, कभी-कभी उस युवती की पवित्रता पर मुग्ध होकर, ससम्मान ईनाम देकर उसे विदा भी कर देते थे। 'करवट' में बंशीधर पिन्काट से इस बात की चर्चा करता है कि वाजिदअली शाह ने भी इसी प्रकार एक युवती को अपने शौहर के प्रति उसकी दृढ़ता देखकर इनाम-इकराम देकर वापस भेज दिया था।....इतना ही नहीं 'करवट' में लखनऊ के युवक और महाशय, जी-जान पर खेलकर अपने नगर की युवतियों और महिलाओं की रक्षा करते हैं।[198] इसी प्रकार 'शतरंज के मोहरे' में दिग्विजय ब्रह्मचारी, स्वयं एक हिंदू होते हुए भी मुसलमान लड़की का पालन-पोषण करते हैं तथा उसकी रक्षा के लिए अपनी व्यवस्थित जिंदगी को दाँव पर लगा देते हैं।[199]

लखनऊ के लोग मेहमानों का स्वागत भी दिल खोलकर करते हैं। किसी के घर पर जब कोई मेहमान आता तो लोग तरह-तरह की मिठाइयों और पकवानों से उसका सत्कार करते। अमृतलाल नागर ने लिखा है- 'करवट' का बंशीधर जब कई महीने कलकत्ता रहने के बाद लखनऊ आता है तो अज्जो, लखनवी लहजे में उसका स्वागत करती है- 'ओ हो तनकुन लाला हैं?

जहेनसीब, जो हुजूर की यह बाँकी छबी फिर से देखने को मिली।'....लखनऊ के लोग मेहमानों का केवल स्वागत ही नहीं करते हैं बल्कि; उसकी सेवा में अच्छे-अच्छे भोज्य पदार्थ भी प्रस्तुत करते, जिनमें कोई न कोई मिठाई अवश्य होती है। 'करवट' में लाला छंगामल के यहाँ जब पुरोहित पाधाजी आते हैं तो वे उनके आतिथ्य-सत्कार में बाजार से मोहनभोग, दूध, मलाई, इलायची, रबड़ी इत्यादि मँगवाते हैं।[२००] राजकीय अतिथियों का स्वागत शाही तरीके से होता। उसके आदर-सत्कार में जानवरों की लड़ाई से लेकर आतिशबाजी और दावत तक शामिल थी, जिसमें खजाने का करोड़ों रुपया पानी की तरह बहाया जाता।[२०१]

(७.) अभिवादन :

'लखनऊ में स्वागत के क्रम में लोग एक से बढ़कर एक अभिवादन-सूचक शब्दों का प्रयोग करते। तसलीम, अदाब, सलाम, पाँलागी, अस्सलाम अलैकुम जैसे शब्दों का उपयोग किया जाता। बराबरी वाले एक दूसरे को सलाम करते। 'करवट' में जब बंशीधर और त्रिलोकीनाथ चोपड़ा मिलते हैं, तब एक-दूसरे को 'सलाम' करते हैं।'[२०२] महल की दास-दासियाँ या अधिकारी 'शतरंज के मोहरे' में बादशाह गाजीउद्दीन हैदर और नसीरुद्दीन हैदर के संबोधन में जहाँपनाह, साहबेआलम, हुजूर, जिल्ले सुहानी जैसे आदरसूचक शब्दों का प्रयोग करतु हैं। लखनऊ के लोग बोलचाल की भाषा में जनाब, अमॉ, अरे वल्लाह, ओह, तेरे, मेरे, अबे, उस्ताद, गुरु, हाय, निगोड़ी, अख्खा, अमीन, ए, अरे मियाँ आदि शब्दों का प्रयोग खूब करते थे।

इसी प्रकार जब कम उम्र का कोई व्यक्ति अपने से बुजुर्ग को आदर देता तो लोग ढेरो आशीर्वाद देते। 'करवट' में कौशल्या जब लाला मैयादास की घरवाली को आदर देती है, तो वह गद्गद होकर उसे छाती से चिपकाकर सौभाग्यशाली होने का आशीर्वाद देती है- 'तुमरा सुहाग हरा -भरा रहे, दूधो नहाओ, पूतो फलों, मेरी बिटिया।'[२०३] 'बूँद और समुद्र' में भी जब सज्जन, शास्त्री जी को प्रणाम करता है तो वे उसे यशस्वी होने का आशीर्वाद देते हैं- 'आयुष्मान हो! यशस्वी हो!'[204]

(८.) बोलचाल :

अमृतलाल नागर ने अपने उपन्यासों में लखनऊ में बोली का सुंदर उदाहरण प्रस्तुत किया है क्योंकि; उपन्यासों में आए पात्र ब्रज, अवधी, उर्दू और अंग्रेजी मिश्रित खड़ी बोली, हिंदी के

साथ ही शुद्ध और धाराप्रवाह उर्दू बोलते हैं। उनकी बातचीत सिर्फ 'बोली' नहीं है बल्कि; उसके माध्यम से नागर जी ने लखनऊ के आम आदमी के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश को उपस्थित किया है। 'नवाबी मसनद' में नवाब की दया पर पलने वाले दो कारिंदे जब आपस में बातचीत करते हैं तो सन् १९३६ का सामाजिक और राजनीतिक परिवेश सजीव होकर हमारे सामने उपस्थित हो जाता है-

रामजानी ने जोर देकर कहा- 'अब ये सौराज नहीं तो क्या है, भाई जान ? सौराज न होता तो क्या ये लोग हुकूमत कर सकते थे ? ये सब टिकस जो बढ़ रहे हैं, सब सौराज के बाद ही हुए हैं। आप ही बताइए, पहले था सनीमा का टिकस ? सैकिल पर ही देख लीजिए, सालभर में तीन-साढे तीन रुपए दे दिए, चलिए साहब छुट्टी हो गई।....

पीरू ने लंबी साँस घसीटकर कहा- 'पहले की क्या बात थी मियाँ ! चार आने का टिकस, दो पैसे की बीड़ियाँ, पूरा तमाशा देख लीजिए जी भर के ! अब ये दो पैसे वाले टिकस में घुस जाते हैं। अमाँ भई, बड़े लोग सच कहते हैं कि राज मल्का 'टूरिया' का था।'[205]

नागरजी के ये पात्र उर्दू-फारसी मिश्रित खड़ी बोली धाराप्रवाह बोलते हैं- 'दंगा फसाद ? किस भडुए ने तुम्हारे भेजे में यह चना फोड़ दिया है ? सब अमन-चैन है, रास्ते, बाजार आम दिनों जैसे गुलजार हैं।'[206] लखनऊ के लोग, जब कहीं बाहर मिलते हैं तो उनकी बातचीत में वहाँ की शराफत और गप्पी संस्कृति देखते ही बनती है- 'अक्खा, आप ही तस्लीम साहब हैं। जनाब से नियाज हासिल करने का तो एक अरसे से इस्तियाक था और फरचंद भाई तो आपकी इस कदर तारीफ करते थे कि बस! यकीन मानिएगा, सचमुच इस वक्त तबियत खुश हो गई भाई जान! वल्ला देखिए, खुदा की मर्जी! चा-हा-हा-हा। भई, फिर कहूँगा कि खूब मिले भाईजान! जिन दिनों मैं लखनऊ गया हुआ था, शायद आप वहाँ तशरीफ नहीं रखते थे।'[207]

यह 'शराफत' इतनी अधिक है कि बिना सिर-पैर के दोनों बंदे धाराप्रवाह बातचीत करते रहते हैं, लेकिन यह 'फरचंद भाई' कौन है, दोनों में से किसी को पता नहीं है। इसी प्रकार की 'गप्पी संस्कृति' का अद्भुत उदाहरण नागर की कहानी 'एक दिल हजार दास्ताँ' है, जो शैलीविज्ञान की दृष्टि से दास्तानगोई का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करती है। इसमें एक मौलाना साहब एक पर एक किस्सा सुनाते जाते हैं, जिसमें लखनऊ की इश्क मिजाजी, नजाकत और नफासत देखते ही बनती है। 'मेरे एक अजीज थे और बड़े दोस्त भी। जमींदारी उनकी सीतापुर में थी, मगर रहना-

सहना ज्यादातर लखनऊ में ही होता था। आप तो खैर, शौक के ही फूल चुनते हैं, मगर वह इश्क के बाग के माली थे। उन्होंने घर फूँककर तमाशा देखा है। सदा दर्दे-जिगर में तड़पती रहे।[208]

लखनऊ में अंग्रेजों का आगमन शुजाउद्दौला के शासनकाल में ही हो गया था। उस समय वहाँ की बोलचाल पर अंग्रेजी भाषा का उतना प्रभाव नहीं था, लेकिन गदर के बाद तेजी से बढ़ा। परिणामस्वरूप वहाँ के छोटे-बड़े से लेकर, घरेलू स्त्रियों की बातचीत में भी अंग्रेजी शब्द, धाराप्रवाह रूप से आने लगे। 'बूँद और समुद्र' की ताई ब्रजमिश्रित खड़ी बोली में खुलकर अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करती हैं- 'सिंस्कार तो होवे ही है, जो कुछ भी देखे हैं, आजकल के मरे सिंस्कार ही बिगड़ गए हैं, दुनिया के। देखो ना मरी पन्नों की लौंडिया बीए-एमे पढ़के दफ्तर में नौकरी करने जावे है। बैसिकल ली है, उसने।'[209]

'करवट' के भी पात्र अवधी मिश्रित खड़ी बोली में खुलकर अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करते हैं - 'सब लोगों को बुलाय के साले को बिरादरी से बाहर करवाता हूँ। समझ क्या रखा हैगा, साले फेरी वाले ने। उसके बेटे की गौरमिंट से भी नहीं डरता हूँ मैं।[210]

'बूँद और समुद्र' में पुराने चाल की माताजी भी अपनी 'आऊत-जाऊत' खड़ी बोली में 'एमे', 'अफसर' जैसे अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करती हैं।[211] इसी प्रकार छोटी-बड़ी जैसी घरेलू और अंतर्जातीय विवाह की हुई तारा आपसी बातचीत में 'मिसिज', 'लौ मैरिज', 'एर्थ', 'लवर', 'इंसल्ट', 'फिलिम', 'सनीमा', बिहेब' जैसे शब्दों का मनमाना प्रयोग करती हैं। वस्तुतः नागरजी के उपन्यासों और कहानियों में जितनी तरह के पात्र आए हैं, उन्होंने उतनी तरह की भाषा-शैलियों का प्रयोग किया है। 'पीढ़ियाँ' में आये उनके बंगाली पात्र शुद्ध हिंदी या उर्दू मिश्रित खड़ी बोली नहीं बोलते हैं, बल्कि बंगला जबान में ही हिंदी बोलते हैं- 'सज्जनों, हियाँ 'नागरी प्रचारक' का संपादक भाषण कर रहा है और आप आंग्लो भाषा का प्रयोग करके सभी का ओपमान कर रहा है। ये बात सर्वथा अनुचित है'[212]

यह नागरजी की विशिष्टता ही थी कि उन्होंने लखनऊ में विभिन्न जनपदों और प्रांतों से आए लोगों की बोली-बानियों का अपने कथा-साहित्य में जीवंत रूप प्रदान किया तथा सुरक्षित रखा। यह उनकी चिंता भी थी। वह चाहते थे कि लखनऊ की मिटती हुई हर चीज को सुरक्षित रखा जाए।'[213] किसी स्थान के सांस्कृतिक जीवन के विकासक्रम को रेखांकित करने के लिए यह जरूरी भी था। 'बूँद और समुद्र' में नागरजी ने लिखा है कि 'नागरिक-सभ्यता की परंपरा

देखने में, बोली बानी का रंग घोलने में, मुझे सबसे अधिक सुभीता यही हो सकता था।'[214] नागरजी ने ऐसा किया भी। अब यह अलग बात है कि आधुनिक लखनऊ की भाषा, अवधी-ब्रज मिश्रित हिंदी से अंग्रेजी-मिश्रित हिंदी अधिक हो गई है।

(८.) हिन्दी-उर्दू विवाद :

लखनऊ हिन्दू-मुस्लिम सौमनस्य का देश में महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। यहाँ के नवाबों के दौर में सिया-सुन्नी और हिन्दुओं की सभी जातियों-सम्प्रदायों के बीच जबर्दस्त सद्भाव रहा है। वही पूरी दुनिया में 'लखनवी-तहजीबों तमद्दुन के नाम से मशहूर हुआ! खासकर वाजिदअली शाह की बादशाहत के दौर में 'लखनवी तहजीबों-तमद्दुन' ने हर तरह से ऊँचाइयाँ छुई और देश-दुनिया में यह फैली और मशहूर हुई।

परन्तु अंग्रेजी-हुकूमत ने और उसी नक्शे कदम पर चली आजाद भारत की हुकूमत ने न केवल हिन्दू-मुसलमानों में बल्कि; हिन्दी-उर्दू भाषाओं के बीच भी राजनीतिक चालबाजियों की वजह से विवाद उभरकर आया। अतः लखनऊ भी हिंदी-उर्दू विवाद का एक केंद्र बना। तब नागरजी, यशपालजी, रामलालजी व लखनऊ समेत देश के दूसरे शहरों के उर्दू अदीबों ने भी अपने बेबाक विचारों से इस अप्रिय-विवाद का शमन किया। अपने उपन्यास 'अमृत और विष' तथा कई लेखों में नागर जी ने इस भाषिक समस्या को उठाया है और इस पर अपना विचार प्रकट किया है। 'अमृत और विष' में यह समस्या रेडियो पर एक समाचार के माध्यम से आती है। स्पष्टत: उनका मानना है कि हिन्दी-उर्दू विवाद विशुद्ध राजनीतिक देन है, जिसे उभारने में तत्कालीन प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू का महत्वपूर्ण हाथ था। 'अमृत और विष' में उन्होंने लिखा है- रेडियो में हिंदी-उर्दू का झगड़ा फिर खड़ा कर दिया जवाहरलाल नेहरूजी ने। क्या हो जाता है इन्हें? हिंदी उनकी निगाह में हिन्दू समाज की रूढ़िवादिता का प्रतीक है शायद?'[215]

हिन्दी के प्रति जवाहरलाल नेहरू की मानसिकता को रेखांकित करते हुए अमृतलाल नागर यहाँ हिन्दी का पक्ष लेते हैं तथा नेहरूजी को इस विवाद का कारण मानते हुए उन्हें तथा उनकी विचारधारा की कटु आलोचना करते हैं- 'बैठे ठाले मेरी हिंदी अहंता को कोंचकर जगा गया ये डिमाक्रेसी का कबूतरबाज पैगंबर। दीगरा नसीहत खुदरा फजीहत- औरों को शांति के उपदेश देते हैं और खुद उनका मानस ही इतना अशांत और कुंठा के विस्फोटों से भरा हुआ है।

दिमाग से उदार समाजवादी, दिल से संकीर्ण व्यक्तिवादी...।'[216]

इस क्रम में नागरजी उन लोगों पर भी आरोप लगाते हैं, जो पढ़े-लिखे दोगले चरित्र के हैं तथा 'हिन्दी को हिन्दू-प्रतिक्रियावादी शक्तियों का अन्यायपूर्ण नारा बतलाकर उसे कुचलने में अपनी प्रगतिशीलता की शान समझते हैं।'[217]

दरअसल नागरजी को दुःख इस बात का है कि इस हिंदी ने उन्हें 'सामाजिक क्रांति, देशभक्ति, आत्मोन्नति की इच्छा और नैतिक आध्यात्मिक मूल्य-मान घुट्टी में दिए थे।'[218] वही उन दोगले चरित्र वाले लोगों की नजर में 'नौकरों से बोलने की भाषा है, मिल के मजदूरों, दूध, सब्जीवालों की पिछड़ी हुई भाषा है। उर्दू, बंगाली, मराठी, गुजराती, फैमिली, तेलगू के मुकाबले में भी एकदम पिछड़ी हुई है।'....इसलिए नागरजी उन प्रतिक्रियावादी ताकतों के खिलाफ डटकर खड़ा होने का विचार करते हैं- 'इन्हें चुनौती दिए बिना अब गुजारा नहीं! दंभी प्रतिक्रियावादी!'[219]

वस्तुत: नागरजी का यह मानना था कि 'उर्दू कोई अलग जुबान नहीं है।'....और न ही हिन्दी -उर्दू का झगड़ा आम जनता का है। उनका मानना था कि यह 'राजनीतिक हिन्दुओं और मुसलमानों' का उभारा हुआ झगड़ा है, जो अपनी गद्दी बचाने के लिए खड़ा करते हैं।[220] उनका यह भी मत था कि उर्दू, हिंदी की ही एक शैली है। इसीलिए उन्होंने भाषाई-एकता की वकालत करते हुए[221] लगातार इस विवाद को राजनीतिक रंग देने का विरोध किया।

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि लखनऊ के सांस्कृतिक जन-जीवन में भाषायी विवाद की दुर्भाग्यपूर्ण भूमिका रही है तथा इस विवाद को उठाकर कई बार वहाँ के हिंदूओं और मुसलमानों की बीच जहर खोलने की कोशिश की गई। नागरजी ने इसका लगातार विरोध किया तथा भाषा को अलगाव का नहीं, बल्कि आपसी एकता का प्रतीक माना।

लखनऊ के सांस्कृतिक जीवन का मूल्यांकन करते हुए कई बातें उभरकर सामने आती हैं। नागरजी ने लगातार अपने उपन्यासों और कहानियों में पतनशील नवाबी संस्कृति की आलोचना करते हुए, यहाँ की जन-संस्कृति की प्रशंसा की है। उनका मानना था कि नवाबों ने विलासिता में डूबकर तथा अपने जीवन को और सुंदर बनाने के लिए मनमाने ढंग से कई प्रकार की परंपराओं की शुरुआत की, जिसका लखनऊ की जनता पर, अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के प्रभाव पड़े। नवाबी काल में लखनऊ की जनता एक प्रकार से नवाबों की विलासिता पूर्ण जिंदगी में शरीक हो गई

थी तथा समाज इस विलासिता के गर्त में डूबकर सड़ रहा था, लेकिन इसी विलासिता और सड़ाँध के बीच से नवाबी-संस्कृति से हटकर, 'लखनवी-संस्कृति' ने जन्म लिया, जिसे अदबीयत और तहज़ीब के इस शहर की जनता ने स्वीकारा, सँवारा तथा व्यापकता प्रदान करते हुए नागरिक सभ्यता के इतिहास में लखनऊ की एक विशिष्ट पहचान कायम की।

१.४ अमृतलाल नागर की कथा साहित्य में लखनऊ के चौक का जन-जीवन

अमृतलाल नागर ने अपने वक्तव्यों और रचनाओं में बार-बार लखनऊ की चर्चा की है और उसमें भी 'चौक' की। चाहे वह 'करवट' हो या 'बूँद और समुद्र', 'पीढ़ियाँ' हो या 'अमृत और विष'। खासकर 'करवट' और 'बूँद और समुद्र' में तो लखनऊ के चौक का सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन जीवन्त होकर सामने आया है। किस प्रकार एक मुहल्ला पूरे भारतीय समाज, संस्कृति और राजनीति का केन्द्र बन जाता है, यह इन दोनों उपन्यासों में सार्थक ढंग से अंकित हुआ है। वास्तव में 'यह मुहल्ला एक बूँद की तरह है, जिसमें समुद्र की तरह विशाल भारतीय समाज के दर्शन होते हैं।[222] चौक के लोग कैसे रहते हैं, क्या सोचते हैं, क्या खाते हैं, क्या पीते हैं, क्या बातें करते हैं, उनकी जाति-बिरादरी कैसी है- ये सारी बातें एक साथ इन दोनों उपन्यासों में उभरकर आती हैं। 'बूँद और समुद्र' में तो पात्र ही नहीं आते हैं बल्कि; उनके साथ उनका पूरा वातावरण आता है- पुरानी हवेली, पीपल के नीचे का चबूतरा, चबूतरे पर गप्प मारते मुहल्ले के लोग, स्त्रियों का जीवन, पड़ोसियों से झगड़ा, ऊँचे-ऊँचे मछली छाप दरवाजे, गोमती का किनारा, स्नान करने जाती महिलाएँ, मुहल्ले का हलवाई, ग्राहकों से उनके झगड़े, गाली-गलौज, मार-पीट और न जाने क्या-क्या![223] परन्तु यह सब अद्भुत-सामाजिकता, आपसी सौहार्द और प्रेम से सराबोर रहा है।

(१.) चौक की सामाजिक संरचना :

लखनऊ के चौक में कई जातियाँ हैं, जिनमें ब्राह्मण, बनिया, खत्री, कुम्हार आदि प्रमुख हैं। 'करवट' में अमृतलाल नागरजी ने खत्री जाति के ही एक युवक के माध्यम से मुहल्ले की रूढ़िवादिता और उसके खिलाफ पनप रही प्रगतिशील चेतना की ओर संकेत किया है। कायस्थों के भी वहाँ कुछ घर है, लेकिन वे मुहल्ले की निर्णायक जाति नहीं है। मुसलमान वहाँ कम हैं और हैं भी तो उनके रहने का मुख्य केंद्र गोल दरवाजा है। यही कारण है कि नागरजी के 'करवट' में तो कुछ मुस्लिम पात्र आते हैं, पर 'बूँद और समुद्र' से पूरी तरह गायब हैं। चौक में वर्चस्व खत्रियों और बनियों का है। आजादी के पहले वे सर्राफे का व्यापार करते थे, 'गोल्ड एक्ट' के बाद बहुत

सारे परिवार 'चिकन' व्यवसाय में उतर आए। ब्राह्मणों में वहाँ कान्यकुब्ज और पंजाब के सारस्वत अधिक हैं।[224] गुजराती ब्राह्मण परिवार में एकमात्र घर अमृतलाल नागर का है। चौक के लोगों का मुख्य आर्थिक आधार उनका जातिगत पेशा ही है। गदर के बाद उनका रुझान तेजी से नौकरी की ओर बढ़ा। गदर के पहले यहाँ का जीवन 'बेफिक्री' का था, जो अंग्रेजों के आने के बाद धीरे-धीरे समाप्त होता गया।।

(२.) चौक का सामाजिक-जनजीवन :

आजादी के पहले चौक का जन-जीवन रूढ़िवादिता और जाति पंचायत में जकड़ा हुआ था। कोई भी व्यक्ति जात-बिरादरी के खिलाफ कदम नहीं उठा सकता था। अन्यथा उसके खिलाफ पंचायत बैठती तथा उसे कभी-कभी तो उसके पूरे परिवार को जात-बिरादरी से बाहर निकाल दिया जाता था। परिणामत: उसके किसी भी कार्यक्रम में पंचायत की तरफ से लोगों की हिस्सेदारी वर्जित हो जाती। 'करवट' में अमृतलाल नागरजी ने चौक इसी अंधविश्वास और प्राचीन रूढ़िवादी मान्यताओं से भरे जन-जीवन को उठाया है।

चौक की गलियों में कई मंदिर हैं, जिनमें छोटी और बड़ी काली जी प्रसिद्ध हैं।[225] वहाँ एक गोकुलद्वारा भी है, जहाँ ताई और मोहल्ले के लोग ठाकुरजी का दर्शन करने आते हैं।[226] चौक की इन गलियों में कहीं बच्चे अपने ताऊ से मलाई खाने की ज़िद करते मिल जाएँगे- 'नहीं-नहीं हम जुलूस थै हैं, तुमने तल्लू को खिलाया, मुनौदा तो थिलाया, हम भी थाएँगे।[227] तो कहीं ईटों की गली के फर्श पर गाय के खड़खड़ाते खुरों की आवाज सुनकर उसे बुलाने के लिए हुमसकर दरवाजे से झाँकती महिलाएँ मिल जाएँगी- 'आओ! आओ!! ले! ले!!'....इसी गली में गाय को खाने के लिए केवल रोटी-चावल ही नहीं मिलता है बल्कि; लाले की घरवाली की गालियाँ भी मिलती हैं- हिंयन का धरा है। हमरे हाड़ चाबोगी खसोटी? खाऊती नाहीं है, जो खान को धरा होगा, खाओ।...अरे खय जाओ रंडो, इत्ती-उत्ती खुशामद कर रहे हैंगे।'[228]

गली अभी सूर्य भगवान की रोशनी से गुलजार भी नहीं होती है कि कहीं रामलोटन महाराज का 'चाह गरम-बिस्कुट-नरम' का स्वर गूँजने लगता है, तो कहीं शाह जी का दीपदार गला- 'गुरु ने कहा था मेरी झोली भरकर लाना है'- सुबह की हवा में लहरें उठाने लगता है।....'पेपर! पेपर!' चिल्लाता साइकिल धारी हॉकर भी अपनी दैनिक कार्यक्रम का पालन करने गलियों में निकल जाता है। पास की नुक्कड़ पर दूसरी गली से 'ताई ले-ले, ताई छू-छू!' की

आवाज भी रोज समय पर ही सुनाई पड़ने लगती है।[229] 'जलेबी वाले की दुकान पर तो दो-चार लड़के और दो-चार-पाँच घरों के नौकर तथा नुक्कड़ के नल पर पानी भरने वाले औरत-मर्दों का चख-चख करता हुआ मजमा भी नित्य की तरह जुड़ चला है...घर का कूड़ा निकालकर गली में छितराना, दोमंजिले से छोटे बच्चों के पाखाने की पोटली बनाकर गली में फेंकना आदि 'सांस्कृतिक-कार्य' नित्य के नियम से आरंभ हो चुका है। हाँ, आज की विशेषता के तौर पर नल के पासवाला नाला भी भीतर से टूट जाने के कारण, टूटे मेनहोल से उबलकर गली की सतह पर अनेक टेढ़ी-मेढ़ी धाराओं में बहता हुआ, गली को बदबू से सड़ाकर लोगों को स्वराज की निंदा करने के लिए नया बहाना दे रहा है।'....अभी तक गली में मेहतर की सूरत भी दिखाई नहीं दी थी कि 'राह चलतों में चर्चा फैल गई कि लाले के दलाल के यहाँ जादू के पुतले रक्खे हैं।'[230] बस फिर क्या था, लाले की घरवाली एटम बम की तरह बीच चौक में फटकर भभूति के घर को हिरोशिमा बना देती है- 'कहाँ है तुमरी रंडो? तुमरी लाड़िली बिटिया?...हमारे घर में अपने चलित्तर उछाल के आई है। औ जो हमरे घर में जादू-टोने करवाएगा, उसी के घर में उलट के बंस का नाश होएगा- कहे जाती हूँ...अरे आवै तो चोट्टी-छिनट्टी, नउकर से रिश्तेदारी जोड़ कर अपने घर में चोरी कराइन, औं अब हमरे ऊपर जादू चलउती है कि हम उनकी सोने की करधनी बेचन खातिर काहे नहीं रक्खा। अरे, हम काहे रखते किसी के घर की फूट-लड़ाई चोरी का माल। हमारे घर का ई सब कैदा नहीं होगा। जिनके घर में चोरी का रुजगार होत है, उनकी बिटिया अपना भतार छोड़ के सत्तर खसम करत फिरत हैंगी। ऊपर से भगतिन बनती हैंगी, चोट्टी कहीं की!'...जब पहले-पहल ही बम फूट गया, तब अम्मा की मशीनगन ऐसी फिटफिट कहा-सुनी पर भला क्या असर करती?...फिर ज्यों ही नंदो ने रणक्षेत्र में आकर गांडीव टंकारा तो शंकर और शंकर की बहू भी कमरे के बाहर आ गए। नंदों ने बड़े-बड़े ब्रह्मास्त्र छोड़ें, अम्मा की फिटफिटिया भी बीच-बीच में दग जाती थी, मगर लाले की घरवाली ने वैज्ञानिक युग की तरह गांडीव और ब्राह्मास्त्रों को खिलौना साबित कर दिया।[231] भारत के किस मुहल्ले में पास-पड़ोस की महिलाओं के बीच इस तरह के झगड़े नहीं होते, जिसमें गड़े मुर्दे उखाड़ने से लेकर कथा-पुराण तक का वाचन किया जाता है? वस्तुतः अमृतलाल नागर जी की यह विलक्षण निरीक्षण-शक्ति ही थी, जिसने गली-मुल्ले की जिंदगी के इस पक्ष को भारतीय साहित्य में अमर कर दिया।

चौक की इस गली में 'कटी-कटी' पतंगों, मकड़ी के जालों, घोंसलों, चिड़ियों गिलहरियों और पिपली के दोनों से लदा, अनगिनत इंसानों के चंचल मन-समूह-सा लहराता हुआ एक घना

पीपल है, जो कई सदियों से मुहल्ले का साथी है। आज के बड़े-बूढ़ों के बचपन तक यह पेड़ गंगे भूरिए के भाड़ का पीपल कहलाता था। मगर वह दीवाल जो किसी समय, किसी गंगे भूरिए का वैभव था, अब बाबू छेदलाल इंश्योरेंस-एजेंट की मिल्कियत है। म्युनिसिपैलिटी के रजिस्टर के अनुसार उस मकान का नंबर इस समय ४२० है, जो सही तौर पर बाबू छेदलाल की ख्याति में चार चाँद लगाता है।....इस पेड़ के पास एक चबूतरा है, जिस पर एक मंडप में हनुमानजी का मंदिर है। चबूतरे के बचे हुए हिस्से पर चौक की चौपाल लगती है। मंगलवार के दिन बसंतू माली फुल्हार, बताशा, बेसन के छोटे-छोटे लड्डू और छोटे-छोटे पेड़े लेकर यहाँ बैठता है।....चौक की इस गली में हलवाइयों की कई दुकानें हैं, जो लखनऊ की खाऊ-पिऊ संस्कृति के उन्नायक हैं। इसी गली में राशन की दुकान के बाद एक 'डॉक्टर हलवाई' हैं, जो अपनी बड़ी-सी दुकान में ऊनी कंटोप से पूरा मुँह ढँके, गद्दी पर बैठे, जलेबी तौला करता है। उसका हाथ 'नौ दिन में अढ़ाई कोस की स्पीड से चलता हैं और जबान डाकगाड़ी बनी हुई रहती है।'[232] उसकी एक प्रमुख विशेषता है, जिसकी ओर नागर जी ने इशारा किया है- "रात के बखत पीनक में किसी को कम माल तौलते हैं, किसी को ज्यादा। इनमें रात में उधार कोई और ले जाता है, सवेरे तगादा किसी और से करते हैं।"[233] इसी कारण इन हलवाइयों की दुकानों पर अक्सर झगड़े भी हो जाते हैं। कभी-कभी इनके झगड़ों का कारण कुछ और होता है। मुहल्ले में 'दादा' टाइप के कुछ ऐसे लोग होते हैं, जो उधार खाते-पीते हैं और जब यह तगादा करते हैं तो पैसा देने के नाम पर गाली देते हुए ये लोग इन हलवाइयों पर चढ़ बैठते हैं और धौंस जमाने के लिए अपना संबंध आर्यसमाज से भी घोषित करते हैं - 'साले, समझता क्या है? (बहन की गाली) अभी आर-समाजी लौंडो को बुलवाय के तेरी दुकान के ये सब थाल-थालियाँ नाली में फिंकवा दूँगा साले! (माँ की गाली) तू अपने को समझता क्या है?'....परिणामत: हलवाई और दादा टाइप के लोगों के बीच जंग छिड़ जाती है, ये इनका समान उलट-पुलट देते हैं, लकड़ी की बेंच तोड़ देते हैं। उधर हलवाई भी कभी दूध, तो कभी गर्म तेल इन पर फेंक देते हैं।[234] आजादी के पहले कुछ हलवाई ऐसे भी थे, जिन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन में स्वदेशी के प्रचार के लिए यह ढिंढ़ोरा पिटवा दिया था कि उसके यहाँ देसी खाँड, देसी घी और कुएँ के शुद्ध जल का प्रयोग होता है।[235]

चौक की इन गलियों का इतना सुंदर चित्र शायद ही किसी रचनाकार ने खींचा है। चौक की इन गलियों में तरह-तरह के लोग रहते हैं। उनका पहरावा अलग-अलग है। आप भूलभुलैया-सी किसी भी टेढ़ी-मेढ़ी गली में निकल जाइए, आपको हर जगह 'लट्टूदार पगड़ी, उमेठनदार पगड़ी,

सादी पंडिताऊ पगड़ी, वाजिदअली शाही चाल की दोपलिया, चौगोशिया और गोटे की कामदार टोपियाँ, उल्टे-सीधे लपेटे गए मुँड़ासो, रुई के सलूके, लंबे-लंबे रुई के चोगे पाजामे, धोतियाँ, अँगोछे पहने, भरे पूस माह के जाड़े में भी खुली धूप का आनंद लेते हुए नंग-धड़ंग, लंगोटेधारी, सभी तरह के लोग' देखने को मिल जाएँगे।....इन गलियों में 'धोती-चादर या ओढ़नी, लहँगा पहने हुए स्त्रियाँ ऐसे लहराते हुए चलती हैं कि जैसे पानी-भरा चूता हुआ डोल दायें से बायें और बायें से दायें पानी की लकीरें बनाता चलता हो।'[236] गदर के बाद अंग्रेजी पोशाक वाले नौकरी पेशा लोग भी इन गलियों में दीख पड़ते थे। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार के बाद पोशाक में और भी बदलाव आया तथा आजादी के बाद अधिकांश लोग फुलपैंट और बुशर्ट पहनने लगे। 'बूँद और समुद्र' के मिस्टर वर्मा और शंकरलाल अंग्रेजी पोशाकें ही पहनते हैं तथा उनकी पत्नियाँ नए फैशन के कोट पहनती हैं।[237]

चौकी इन गलियों में कुछ विचित्र प्रकार के लोग रहते हैं, जो शायद आपको लखनऊ में ही देखने को मिलेंगे। नवाबी ठाठ-बाट में जीते इस लखनवी-समाज ने गदर के बाद भी 'नवाबी परंपरा' को कायम रखा। इसी चौक कि बैदोवाली गली में एक भुल्ली महाराज रहते थे, जो इतने मोटे थे कि 'आबदस्त' भी नहीं ले सकते थे। दो नौकर उन्हें साफा लगाते थे। बड़ी-बड़ी सफेद मूँछें, मुँह में पान भरे हुए झरोखे में बैठे गली की ओर देखते रहते थे। उन्हें एक ही विनोद सूझता था, गली में आते-जाते जिस किसी पर उनकी मौज आ जाती, उस पर अपने पान की पीक थूक दिया करते। अगर वह चिढ़कर गाली देता तो भूल्ली लाला का एक तगड़ा नौकर, जो दरबान के पास ही बैठा रहता था, गली में उतरकर उसकी अच्छी-खासी धुनाई कर देता था। लेकिन पान की पीक पड़ने पर कुछ न बोलने वालों को रोक कर लाला नई धोती, कुर्ता, दुपट्टा, टोपी और एक अँगोछा भेंट किया करते थे।'[238]

चौक में रहने वाली सबसे जीवंत पात्र ताई है, जो भारतीय समाज के किसी भी मूल्ले में मिल जाएगी। ताई, राजबहादुर द्वारका प्रसाद अग्रवाल की छोड़ी हुई पत्नी है, जो 'लखनऊ के रईसों की नाक है...हर साल उनके यहाँ संत सम्मेलन होता है, कई लाख रुपया खर्च कर उन्होंने लक्ष्मी नारायण मंदिर बनवाया है, जो अपने देवताओं के नाम से नहीं बल्कि; अग्रवाल-मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है।....दिल्ली के बिड़ला-मंदिर की तरह। ऐसे पति की सुहागिन ताई 'जगत्-ताई बनकर लड़ाका, टोनही, मनहूस आदि उपाधियों से विभूषित होकर'....गली-गली की छू-छू बनी

जमाने भर की घृड़ा और अनादर बटोरती है, जिसे 'लेकर भावनाशील बड़े-बूढ़े अक्सर भाग्यवाद का प्रचार किया करते हैं।'[239] वस्तुतः 'जीवन की परिस्थितियों ने ताई के मन में विचित्र ग्रंथियाँ उत्पन्न कर दी हैं। अब वह जादू-टोने से मानव-मात्र का संहार करने पर तुली हुई-सी है। भारतीय समाज का सारा अंधविश्वास और मनुष्य से घृणा करने वाली सारी हिंसा मानों सिमटकर ताई में केंद्रित हो गई।'[240] ताई को गली-मुहल्ले के लोगों की सूरत से इतना वैर है कि उन्हें देखते ही उसकी हिंसा जाग उठती है, खासकर जब उसे कोई चिढ़ाता है तो 'निगोड़े के तन-मन में कीड़े, रोवें-रोवें में कोढ़ हो, मरों के पूरे घर की अर्थियाँ साथ-साथ उठे, हैजा हो, पिलेग हो, सीतला खाय...और भी न जाने क्या-क्या।'[241]

ताई के विषय में मुहल्ले में तरह-तरह के किस्से प्रसिद्ध हैं कि वह 'रात के बारह बजे कुछ दिनों तक किसी मेहतर के यहाँ जादू-टोना सीखने जाती थी। काले डोरे की करधनी में छोटा-सा चाकू और कैंची बाँधकर उन्होंने जात-बिरादरी और मुहल्ले-टोले के घरों में गजब छाए हैं...कहीं नन्हे-मुन्ने के चँदोवे में तेल का टपका लगाकर मारण-मंत्र चलाया है।'....शायद इसी कारण वह 'अनेक बार टोना करते पकड़ी गई है, सैकड़ों बार लड़ाइयाँ हुई हैं, मारी-पीटी गई है, घर-घर के दरवाजे' उसके लिए बंद हुए हैं।[242] कैसी भयानक स्थिति है, एक ऐसी महिला की, जिसे उसके पति ने छोड़ दिया है, अकेली हवेली में रहती है। जिसके बारे में लोग तरह-तरह की कल्पनाएँ करते हैं। हो भी क्यों नहीं, जिस भारतीय समाज की बुनियाद धर्म, संस्कृति और रूढ़िवादिता पर पड़ी हो, उस समाज में किसी परित्यक्ता महिला के बारे में ऐसी धारणा बने तो कोई आश्चर्य नहीं। ताई के चरित्र का यह एक पक्ष है। उसका दूसरा पक्ष भी है जो उदात्त मानवीय करुणा से भरा हुआ है। उसके घर में एक दिन बिल्लियों का युद्ध होता है, जिसमें एक नवजात बिल्ली के बच्चे की सिरकटी लाश मिलती है, जिसे वह पड़ोसी तारा के दरवाजे पर आती है- 'राँड बहुत पेट लिए घूमती है। ऐसे ही कट कर गिर पड़ेगा।'....वही ताई एक रात तारा के प्रजनन में उस समय मदद करती है, जब उसके पति मिस्टर वर्मा रात में दाई की खोज में जाने के क्रम में उसे सफेद कपड़ों में चुड़ैल समझकर बेहोश हो जाते हैं।....इतना ही नहीं, घर में उत्पात कर रहे बिल्ली के बच्चों को गोद में रखकर, जब वह बाहर फेंकने जाती है तो सहसा उसे 'अपनी गोद में खेलने वाली बिटिया' की याद आ जाती है।'....तब से वह बिल्ली के बच्चे उसके घर के सदस्य हो जाते हैं। यही कारण है कि रात में उसे बाँधकर जब चोर छह हजार रुपया चोरी कर ले जाते हैं, तो सुबह में ताई सबसे पहले उन रुपयों की चिंता नहीं करती है, बल्कि अपनी धोती की खूँट खोलकर उन

पैसों से बिल्ली के बच्चों के लिए दूध मँगवाती है।[243] परिणामत: ताई जिसे सब बुरा कहते हैं, वह सज्जन के लिए श्रद्धा का विषय बन जाती है। बाद में ताई अपने घर में वनकन्या की पाठशाला खुलवाती है, हजारों रुपया लुटाकर राधा-कृष्ण का ब्याह करवाती है तथा मुहल्ले में आदर का पात्र बनती है। जब उसकी मृत्यु होती है तो मुहल्ले की 'छू-छू ताई' की अंतिम यात्रा में लोग श्रद्धा के साथ भाग लेते हैं।

ताई कि मुहल्ले-भर में बस एक ही साथी है- नंदो। वह उसे कभी-कभी पान खिलाती है- 'लेओ, पान खाओ' और ताई भी उसे प्यार से 'राँड' कहकर पुकारती है - 'नंदो, तू छू गई राँड! जाके नहा!'....ताई 'जै सी-कृष्न' कहकर बड़े प्यार से पान खाती है और नंदो आदर के साथ कमर से तमाखू का बटुआ निकालकर उसकी और बढ़ा देती है, फिर दोनों सूरज की तरफ पीठ करके, जरा हटकर जाती हैं।....यह सारा क्रिया-कलाप ताई की हवेली की छत पर होता है, जहाँ से पूरा चौक साफ नजर आता है। नंदो एक वणिक परिवार की होती है, जिसका पति मर गया है तथा निराश्रित होकर वह मायके में रह रही है। उसका बस एक ही काम है- इधर की बात उधर करना और उधर की बात इधर करना। वह अपने घर से गहने चोरी करके पड़ोस के लाला दलाल की घरवाली के यहाँ बेचने के लिए रख देती है, लेकिन उसे वहाँ से एक पाई भी नहीं मिलती है। परिणामत: वह ताई से मिलकर उसे मारने के लिए पुतले बनवाती है।....मुहल्ले में पड़ोसियों से झगड़ा होने का यह भी एक कारण है। नंदो इतना ही नहीं करती है बल्कि; अपनी भौजाई का किसी से रिश्ता पटाने का इंतजाम भी करती है।....और जब कवि श्री विरहेश से उसे उचित आमदनी नहीं होती है, तो भौजाई के पति का कान भर देती है : 'तुम चाहे जो करो...ऐसे तो हम न बताते, पर जब हमरे भाई की कोई जान लेने का जतन करेगा तो हम जरूर बताय देंगे। ई तुमरे दिल की रानी का काम हैगा, जिनके खातिर तुम अपनी सगी बहन को सताउत हौगे। आजकल रानीजी आँखें लड़ाय रही हैंगी पराय मरदन से।'[244]

परिणामतः बड़ी की पूरे परिवार और मोहल्ले में बेज्जती होती है तथा उसका पति मनिया उसे मार-पीटकर घर से निकाल देता है। इधर नंदो मुहल्ले की आई हुई दो औरतों को इतिहास बतलाने के लिए अपनी कोठरी में बुला लेती है।[245] नंदो और ताई के चरित्र में काफी समानताएँ हैं। दोनों के पति नहीं है। नंदो ताई की वर्तमान है, ताई नंदो का भविष्य। दोनों समाज से एक ही स्तर पर लड़ती हैं, वह अपनी अस्मिता की लड़ाई। दोनों संतानविहीन हैं, इस कारण भी जीवन के प्रति उनकी मान्यताएँ बदली हुई हैं। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए दोनों हथियार के रूप में

जादू-टोने का इस्तेमाल करती हैं फर्क इतना है कि जीवन के अनुभवों ने ताई की अंदर के ममता और करुणा को जीवित कर दिया है, नंदो उस प्रक्रिया से अभी गुजर रही है।

लखनऊ के इस मुहल्ले पर जात-बिरादरी का गहरा प्रभाव है। रूढ़िवादी संस्कारों से अभिशप्त यह मुहल्ला गदर के पहले जातीय पंचायत में जकड़ा हुआ था। समाज का कोई भी व्यक्ति जात-बिरादरी के खिलाफ जा नहीं सकता था। यही कारण है कि जब वंशीधर टंडन, नैंसी के साथ कलकत्ता जाने लगता है तो मुहल्ले-भर में उसकी चर्चा होने लगती है तथा जातीय पंचायत उसे और उसके पूरे परिवार को बिरादरी से निकालने की धमकी देती है। बंशीधर उसका डटकर सामना करता है। कलकत्ता जाता है। वहाँ कई वर्ष रहने के बाद जब हेडमास्टर बनकर वापस लखनऊ आता है तो अपने साथ 'विलायती कुत्ता' भी लाता है। इतना ही नहीं, जब उसकी पत्नी बिना पर्दा किए गली से गुजरती है तो लोग उसे देख कर चौंक उठते हैं। एक कहार का लड़का मस्ती में गाता हुआ इनकी बगल से गुजरा- 'पल्लू ढाँक के चलो रही मेरी बन्नो, चक आलम टूट जाएगा' तभी बंशीधर का कुत्ता एंजिल भौंक उठता है, जिसे सुनते ही 'लड़का गाना छोड़कर तुरंत उछलकर दो हाथ पीछे हो जाता है। गलियों में चलती आवारा गायों से बचने के लिए बंशीधर को अक्सर अपनी चंपक के दायें-बायें होना पड़ता है। गली के आवारा कुत्ते सहज भाव से टंडन-दंपति के एंजिल को देखकर क्रोध भरे कर्कश स्वर में भौंक उठते हैं। बंसी की 'केन' उन्हें पास आने से रोक लेती है।....बंशीधर की इस अंग्रेजी चाल-चलन पर मुहल्ले की जातीय पंचायत को फिर एतराज होता हैं तथा उन्हें जात-बिरादरी से बाहर निकालने की धमकी देती हैं।[246]

इस पर, चौक के इस परिवार में खूब चर्चा होती है। मुहल्ले के कई लोगों का इतिहास खोला जाता है- 'इन चोट्टी की आधे-पाधों की बातों से मैं दबने वाला नहीं हूँ, बढ़के इसी साले रजोले की भौजाई मुसलमान मनिहार के साथ भाग गई रही। तब हमने और मुन्नेमल ने खड़े होकर इनको बिरादरी से बाहर होने से बचाया था। तुम पैदा भी नहीं हुए थे तब तलक।'[247] अंग्रेजों के बीच पहुँच रखने वाले बेटे पर परिवार के बुजुर्ग लाला मुसद्दीमल को गर्व भी है : 'मेरा लड़का भी इस नई गौरमिन्टी में ऊँची पहुँच वाला हैगा, ये समझ लें पहले गरीबन पर बैठे-बैठे पान पीक थूकी और उसे पिटवाया या कपड़े दिए, ये रहीसी बदमिजाजी मेरे लड़के से नहीं चलेगी।'[248] यह सब बात तो उस घर में हो रही है, जिस पर पंचायत कहर टूटने वाली है। अंग्रेजी पढ़ी-लिखी पीढ़ी को इस जातीय पंचायत से कुछ लेना-देना नहीं है। वह इससे विद्रोह करती है।

वैसे भी जब भुल्ला महाराज जैसे लोग इस पंचायत के शुभचिंतक और कर्ता-धर्ता हैं तो फिर नई पीढ़ी का इनसे विद्रोह क्यों न हो? क्यों नई पीढ़ी इन सड़ी-गली मानसिकता वाले लोगों को ढोते? और यह आज किसी एक घर की नहीं है।

'जातीय पंचायत' को इस बात का अहसास है कि पुरानी मानसिकता के खिलाफ नई मानसिकता के विद्रोह का अंकुर हर घर में फूट चुका है। 'आजकल घर-घर में ऐसे ही किस्से कीजिए हो रहे हैं। लड़के अपनी मेहरियन को पढ़ाने की खातिर काली मेमें बुलाय रहे हैं।'[249] वस्तुतः जैसे-जैसे अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार-प्रसार बढ़ता गया, जातीय पंचायतें टूटती गईं। टूटी ही नहीं, बल्कि चौक की नई पीढ़ी ने आने वाले दिनों में उसे ध्वस्त ही कर डाला। आजादी के बाद तो इसका नामो-निशान ही मिट गया।

'बूँद और समुद्र' के मिस्टर वर्मा तारा से अंतर्जातीय विवाह करते हैं, शंकरलाल अपनी पत्नी के साथ खुलेआम सिनेमा देखने जाता है। वहाँ वे ही नहीं, उनकी पत्नियाँ नए फैशन पर बात करती हैं। छोटी को यह भी पता है कि उसका नए डिजाइन को कोट 'मलकानी ब्रदर्स' में ही बना है।[250] इतना ही नहीं, वे आपस में प्यार-मोहब्बत पर भी बातें करती हैं : 'तो क्या मिस्टर वर्मा से पहले तुमने किसी और से लव किया था?' छोटी ने चमककर पूछा?...तारा लजाकर धीरे से बोली- 'नहीं! हाईस्कूल का इम्तहान दे के मैं मुरादाबाद गई। हमारे मौसिया वहाँ सिविल सर्जन हैं, उनका एक भतीजा वहीं अस्पताल में डॉक्टर था और उन्हीं के बँगले में रहता था। वह हजरत हम पर डोरे डालने लगे...हमारा भी नया ही मामला था, मन फिसल गया...मैंने तो भोलेपन से उसे अपना पति मान लिया था बहन! ये थोड़े ही जानती थी कि मतलब साधकर बाद में दगा दे जाएगा।'...छोटी बोली - 'इसीलिए तो कहती हूँ कि लब भी धोखा है...'[251]

नए विचार की इन महिलाओं को नाम लेकर पुकारना अच्छा नहीं लगता है : 'हमें तारा-तारा पुकारना अच्छा नहीं लगता...' तो फिर इन्हें किस शब्द से संबोधित किया जाए?' ये महिलाएँ खुद इसका जवाब देती हैं- मिसिज वर्मा कहा करो। हम भी तुमको ऐसे ही कहा करेंगे। लेकिन कुछ पुराने विचार की भी महिलाएँ हैं, जिन्हें 'मिसिज वर्मा' की तर्ज पर 'मिसिज सुनार' सुनना अच्छा नहीं लगता है- 'तो तुम हमको क्या पुकारोगी- मिसिज सुनार? हम तो भाई, नहीं बोलेंगे इस नाम से।'[252] आजादी के बाद चौक की इन घरेलू महिलाओं में राजनीतिक चेतना भी जबरदस्त तरीके से उभरकर सामने आई। यहाँ तक कि उन्हें 'वोट' देने के मामले में अपने पति

का अनुचित हस्तक्षेप भी बर्दाश्त नहीं था : 'देखो, आज हम जिंदगी में पहली बार ओट डालन आए हैंगे। जिसे हमरा मन आएगा, उसे देंगे। और तुम्हें अब कसम है, हमरा मरा मूँ देखौ जो अबकी टोका-टोकी करौ।'[253]

कितना अंतर आ गया है, चौक के इस जीवन में? क्या से क्या हो गया? आजादी के पहले कहाँ रूढ़िवादिता में जकड़ा यह लखनवी-समाज और कहाँ अब यह क्रांतिकारी परिवर्तन? एक मुहल्ले के जीवन में आ रहे परिवर्तन की इस प्रक्रिया को नागर जी ने जितनी गहराई से उभारा है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

लखनऊ के इस मुहल्ले में एक चबूतरा भी है, जहाँ चौपाल लगती है। चौक का पुरुष समाज इस चौपाल में पास-पड़ोस से लेकर देश-दुनिया की बातें करता है। एक-दूसरे को सुनता है, उस पर अपना विचार प्रकट करता है। नवाबी-शासन और गदर के कई वर्षों बाद तक यह मजमा चौक के किसी रईस के यहाँ लगता था, जहाँ सुबह से ही बड़े-बूढ़ों की नियमित सभा जुड़ती थी। जिस रईस के यहाँ यह चौपाल लगती, उसी का यह जिम्मा था कि सभा के लिए हुक्के, पान, तंबाकू आदि की व्यवस्था करें। 'करवट' के गुमानी भैया के यहाँ ऐसी ही चौपाल लगती है तथा वह सभा का सारा खर्च वहन करते हैं।'[254] इस सभा में एक खलीफा जी भी हैं, जो नित्य नई-नई सूचनाएँ लाते हैं। इन सूचनाओं के माध्यम से नागरजी ने सुधारवादी आंदोलनों के कारण तत्कालीन समाज में आ रहे बदलाव की ओर संकेत किया है : अरे लल्लो भैये, मूँ चूमो दयानंदियों का, क्या आनंद फैलाया है। दुई-दुई ठो बलमा मोरे अंगना माँ गिल्ली खेले।...कल स्याम को निवाजगंज में ये हमारे गुमानी के भतीजे डॉक्टर टंडन ने और महासै जी ने और सब पढ़े-लिखे आई ओम डामफूलों ने मिल के एक कायथ की विधवा लड़की का ब्याह फिर से करवाया दिया।'

'ऐ!' कई तरह से यह 'ऐंकार' की आवाज गूँजी। 'अमाँ खुले आम की दबे ढाँके?'

'खुले आम गाजे-बाजों के साथ...बेटी वाला भी दयानंदी, बेटेवाला भी दयानंदी। दोनों ने मिलकर यह आनंद फैलाय दिया।'[255]

जात-बिरादरी में जकड़े समाज की चौपाल में और क्या बातें हो सकती थी? लेकिन जातीय पंचायतों के ध्वस्त होने के साथ ही इस चौपाल की बातचीत के विषय में भी बदलाव

आया। पहले बातचीत का केंद्र जात-बिरादरी, रईसों की शान-ओ-शौकत होती थी। अब परनिंदा शुरू हुई। स्वराज्य और कांग्रेस पर टीका-टिप्पणी होने लगी। मुहल्ले की समस्याएँ भी सामने आई। वह भी बातचीत का केंद्र बना। हुक्का गुड़गुड़ाने के साथ ही बाबू रामस्वरूप जैसे लोग चबूतरे पर बैठ कर अखबार भी पढ़ने लगे।....कुछ लोगों की आँखें बहुत तेज हैं। हुक्का गुड़गुड़ाते हुए लाला मुकंदीमल देख लेते हैं कि महावीर के मंडप से सटकर बैठा हुआ भगवानदीन मक्खन वाला तौलने में हेराफेरी कर रहा है। टोकने पर भगवानदीन उलटे लाला जी पर ही आरोप जड़ देता है- 'अरे लाला, हमें तो मुनाफे का एक चम्मच मिलता है। बड़ा मुनाफा तो आप बड़े आदमी...'लाला भला चुप क्यों रहते, 'देखो, देखो, बहस करता है ससुरा। गाँधीजी यही तो आजादी दिलाई गए हैं- ऊँच-नीच जिसको देखो, बस जबान लड़ाएगा...'[256] बात तौलने की हेराफेरी से शुरू होकर देश की आजादी और गांधीजी से लेकर कांग्रेस-राज की बेईमानी पर उतर आती है। अखबार पढ़ते हुए बाबू रामस्वरूप जी को लगता है, इसका कारण कुछ और है। सारे नेता और मंत्री पूँजीपतियों के एजेंट हैं...अब तो कम्युनिस्ट आएँगे और इनकी हुलिया टाइट कर देंगे।'[257] कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति आम जनता की यह आकांक्षा नागरजी की भी थी। यह अलग बात है कि कम्युनिस्ट पार्टी आज जनता की आकांक्षा को कभी भी पूरी नहीं कर पाई। अपनी कहानी 'कामरेड का कोट' में भी सृंजय ने यही बात उठाई है। सामंती शोषण और आतंक से मुक्त होने के लिए आम जनता जब हथियार उठाना चाहती है, तब पार्टी इसकी अनुमति नहीं देती है और चाहते हुए भी उस भयानक स्थिति को नहीं महसूस कर पाती है। बहरहाल, यह बहस का एक अलग मुद्दा है, लेकिन भारतीय राजनीति को लेकर ऐसी चर्चा चौक की इस चौपाल में खूब होती। लोग घंटों बहस करते, दीन-दुनिया की बातें करते।

इस चबूतरे पर हनुमानजी का एक मंदिर है, जहाँ एक बड़ी-बड़ी खिचड़ी मूँछों और कसरती देह वाले ब्राह्मण पालथी मारे 'रामचरितमानस' का पाठ करते रहते थे। आज भी वो कर रहे थे। लेकिन उनके इस मानस पाठ पर बगल में ही लाला मुकंदीमल और तरकारी वाले के बीच हो रहे लंकाकांड का जरा भी असर नहीं पड़ता है। वे अपनी ही धुन में मानस का पाठ करते जा रहे थे।[258]

मुहल्ले में एक गोकुलद्वारा भी है, जहाँ ताई आरती-अर्चना करने जाती है। वहाँ का दृश्य भी नागर जी ने सुंदरता से खींचा है। कहीं मुखिया जी ठाकुर जी की सेवा के पान लगा रहे हैं, तो कहीं दर्शनार्थी बूढ़े 'कृष्णमय...जगत' की चर्चा करते हुए परनिंदा रूपी भजन में लिप्त है।....वहाँ

एक भितरियाजी हैं, जो नैन-सैन चलाकर ताई को छेड़ते रहते हैं- 'बुड्ढी हो गई निगोड़ी, अब भी राह-चलतों से छेड़ करती आवे है!' ताई भी उन्हें कहाँ छोड़ने वाली हैं- 'और तू कौन बड़ा जवान है खसोटे? हात भर की दाड़ी लेकर भी चिता में नई पौंच पाईया रंडो...अपने गुन नई देखता, दिनभर छछूंदर ऐसी इस घर से उस घर घुमा करे है।'[259]

वहाँ मुहल्ले-भर की औरतें एक-दूसरे से अपना दुखड़ा रोते रहती हैं। किसी को अपनी बहू से शिकायत है, 'हमारा भाग खोटा है और का कहैं तइया! हम तो बहुवा की ऐसी-ऐसी खिदमतगारी है किया की कोई कर नाहीं सखत है' तो किसी को अपनी सास से, 'बहु बिचारी ने मूँ से कभी स्त्री के कृस्न- कुछ भी नई कहा। सास उसे पत्थर की एक पटिया से नाप कर चावल खाने को दिया करे। वो मुश्किल से एक मुट्ठी होता था।[260]

वस्तुतः उस समय समाज की पारिवारिक स्थिति विचित्र थी। सास की बहू से और बहू की सास से नहीं पटती थी। ननद की भौजाई से और भौजाई की ननद से नहीं बनती थी। कई मुद्दों पर बाप से बेटे का विरोध था, बाप से बेटे का। वस्तुतः अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण लखनऊ का पारिवारिक जीवन विघटन के दौर से गुजर रहा था। स्थितियाँ आज भी यथावत हैं, लेकिन उस समय गदर के बाद दयानंद के विचारों का आम जनता पर प्रभाव कांग्रेस का राष्ट्रीय आंदोलन, आजादी, आजादी के बाद देश का पहला चुनाव आदि कई ऐसी बातें थी, जिनका लखनऊ के पारिवारिक जीवन पर सीधा असर पड़ा। नागरजी ने इन सारी बातों को सार्थक ढंग से रेखांकित किया है तथा उनके कारणों की तलाश करते हुए इस बात की ओर संकेत किया है कि व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं हो पाना ही सारे फसादों की जड़ था। बढ़ती महँगाई के कारण पनपी आर्थिक विषमता ने लोगों की सारी योजनाओं को धराशायी कर दिया था।

दूसरी बात-- जात-बिरादरी और कठोर पारिवारिक नियंत्रण में घुटता लखनऊ के चौक का पारिवारिक जीवन अस्त-व्यस्त हो गया था। खासकर उस परिवार का, जो आधुनिक विचार और जीवन-शैली को नकारते हुए प्राचीनता का पोषक था। शिक्षा के कारण समाज में आ रहे परिवर्तन से पुराने लोग अनभिज्ञ थे। मुहल्ले के मंदिर और चौपाल में जाकर लोगों को राहत मिलती थी। इस पर मंदिर में मुखिया जी का आशीर्वाद लोगों में उत्साह का संचार करता था- 'अरे भगतिन! चिंता मती कर। दुनिया नई देखेगी तो ठाकुर जी महाराज तो देखेंगे...।'[261] लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया, मुहल्ले की जीवन-शैली में भी बदलाव आता गया। न तो पुजारियों

में ईश्वर और भक्तों के प्रति वह श्रद्धा रही, न भक्तों में ईश्वर के प्रति आस्था। मंदिर धीरे-धीरे मुहल्ले के आवारा और ऐसे लोगों के केंद्र में बनते गए, जिनका ईश्वर-भक्ति से दूर का रिश्ता भी नहीं था। चौक में भी कुछ लोग ऐसे थे, वे मंदिर इसलिए जाते थे कि वहाँ 'फिल्मी चाल का कीर्तन' सुनने को मिलेगा। कथित भक्तिनें भी इसके लिए 'भक्तिराज' से आग्रह करतीं।....भक्तराज भी शेरो-शायरी के अंदाज में कथावाचन करते हुए भक्तिनों से आँखें लड़ाते, कभी वे कीर्तन गाते हुए जान-बूझकर बेहोश हो जाते। चारों ओर कोहराम मच जाता। भक्तिनें उनकी सेवा करतीं। कोई हथेलियाँ सहलाती, कोई पैर के तलवे और कोई सिर।[262] इन सबका चौक के जीवन पर गहरा असर पड़ा तथा धीरे-धीरे मंदिरों और मस्जिदों के प्रति पढ़ी-लिखी जनता की आस्था कम होती गई।

अमृतलाल नागर अपने कथा साहित्य में चौक के बाजार का भी सुंदर चित्र खींचा है। चौक का बाजार मुख्यत: गोल दरवाजा के आसपास केंद्रित है, जिसके दोनों ओर हलवाइयों, पंसारियों, पटुवों, कंजरों, बेलबूटों के ठप्पे बनाने और बेचने वाले दुकानदारों से लेकर बड़े-बड़े व्यापारियों की गहने और चिकन की दुकानें हैं। आजादी के पहले, खासकर नवाबी-शासन में यहाँ का बाजार सामानों से भरा गुलजार बना रहता था। गदर के बाद इस बाजार की रौनक ही समाप्त हो गई।....इसके बाद भी कुछ अवशेष बचा रहा। अब भी कहीं-कहीं 'अँगूठे पर चमड़े की पट्टी बाँधकर उस पर बैठे हुए बाज, हाथ में पिंजरा लटकाए हुए तीतरों, बटेरों के पिंजरे लिए हुए मेंहदी लगे पट्टेदार बाल और दाढ़ी-मूँछें पुराने जमाने की झलक दे रही थीं। घेरेदार लहँगे, रंग-बिरंगी ओढ़नियाँ...पहने महिलाएँ भी नजर आ रही थीं।'[263]

शाम को चौक के इस सँकरे बाजार में चिकन के कुर्ते, दुपलिया टोपी, दुपट्टा, धोती या छकलिया, अँगरखा, नुक्केदार दुपलिया, चूड़ीदार पाजामा, पट्टेदार बाल और सुरमई आँखों का मेला लगता था। उनके साथ रेशमी रुमालों से ढके हुए, मूट्ठियों में भिंचते हुए हजरत बटेर भी तशरीफ़ लाया करते थे। मेंहदी से रची हुई दाढ़ी वाले मियाँ जी भी लंबा कुर्ता और ढीली मोहरी का पाजामा पहने कंधे पर दुपट्टा डालकर पतली-सी संदूकची में इत्र-फुलेल, अंजन-मंजन और मिस्सी के अलावा नए फैशन के पाउडर लेवेंडर और 'ऑटो दिल बहार' लिए कान पर हाथ लगाकर कोठेवालियों को पुकारा करते थे, 'माशूकाना!...!!' गोल दरवाजे के फाटक पर फूलों के गहने और गजरे लेकर माली अपनी बेला, चमेली और मोतियों की वाहवाही में आप ही मगन

रहते थे।'[264]

अन्य बाजारों की तरह चौक के छोटे दुकानदारों की आर्थिक हालात उतनी अच्छी नहीं थी। रोज की खरीद-बेच के बीच से ही जो थोड़ा-बहुत मुनाफा बचता था, उसी से उनके घर का खर्च चलता था। सब्जी बेचने वाले कुँजड़ो की हालत तो और भी अच्छी नहीं थी। लेकिन उनकी आपसी चख-चख झगड़े, गालियाँ, बोलने का तरीका, राह चलते लोगों को खड़ा कर देते।[265]

लखनऊ के इस चौक में कई बोली-बानी के लोग रहते हैं। 'पुराने बहुत से परिवार ऐसे हैं या थे जो, कि गाँवों से शहर में आए थे और घर में अपनी और बाहर में लखनवी अर्थात खड़ी हिंदी बोलते थे। उनके संस्कार भी वही थे।[266] उनकी बोलचाल के माध्यम से नागरजी ने लखनवी विविधता को रेखांकित किया है। 'करवट' और 'बूँद और समुद्र' दोनों में चौक का 'यह लिंग्विस्टिक सर्वे भाषा विज्ञान की सामग्री का अद्भुत पिटारा है।'[267] उनके इन दोनों उपन्यासों में प्रायः जितनी तरह के पात्र आए हैं, 'उतनी तरह की शैलियों और उनके अपने-अपने व्याकरण आए हैं।'[268] कहीं बाबा रामजी अंग्रेजी और अवधी मिश्रित खड़ी बोली बोलते हैं- 'आऽरे...जब मरिगा तब कहाँ हिंदू, कहाँ मुसलमान और कहाँ क्रिस्तान। मनुष्य जब जन्मत है, और जब मरन है, तब मनुष्यै होत है रामजी। कि झूठ कहा?'[269]

तो कहीं हाथरस की ताई ब्रजभाषा का पुट लिए खड़ी बोली बोलती है- 'अरे जा-जा, जिसे मालूम न हो उसके आगे कहियो। तेरे बाप ने तो न जाने कौन-सी बेगम का माल चाटा भी और लूटा भी। और भी न जाने कहाँ-कहाँ की गठरी मार लाया निगोड़ा!'....कहीं श्रीलाल शुक्ल के सफारी बोली की तरह चौक का एक हलवाई 'आग' बोली बोलता है, 'बाँह! तुम हो तौं लैं गए थे रँवड़ी- अभी परसों पिछले रोज की बात हैं, यह न समझना कि डॉक्टर कों कुछ याद नहीं रहता। हाँ।'....तो कहीं पुरानी चाल की माताजी आउत-जाउत खड़ी बोली बोलती हैं- 'तुमसे क्या? जो जिसकी समझ में आऊत है वही करत हैगे। कल को हमरे संकर एमे पास करके अफसर होएँगे उनकी बहुरिया पुरानी चाल से चलै तो किरकिरी ना होय!'[270]

इसी प्रकार मुहल्ले की स्त्रियों के आपस के झगड़े में प्रयुक्त बोलचाल और गालियों का चित्रण भी नागरजी ने जीवंत भाषा में किया है। वास्तव में नागरजी ने बोलचाल के माध्यम से चौक के पात्रों की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की ओर संकेत किया है। आजादी के बाद चौक बोलचाल में भी परिवर्तन आया तथा यहाँ की भाषा भी धीरे-धीरे हिंदी हो गई।

अमृतलाल नागर के लिए चौक, महज एक स्थान नहीं था। उनके लिए वह लखनवी समाज, सभ्यता और संस्कृति का जीता-जागता इतिहास था, जहाँ उनकी रचनात्मकता ने विस्तार पाया। एक तरह से वह उनके लिए भारतीय समाज, खासकर मध्यवर्ग जिंदगी में आ रहे उतार-चढ़ाव का साक्षी था। शायद इसीलिए रामविलास शर्मा ने उनके लिए कहा भी है कि- 'विचारधारा से वह गाँधीवादी हैं अथवा यों कहें गाँधीजी के भक्त हैं, लेकिन आदमी वह खास चौक लखनऊ के हैं।'[271] लखनऊ पर केंद्रित अपने एक साक्षात्कार में नागरजी ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि उनकी रचनात्मकता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष लखनऊ में चौक का जीवन रहा है। यही कारण है कि उन्होंने अपने सभी कथा साहित्यों अर्थात उपन्यासों और महत्वपूर्ण कहानियों में घोषित-अघोषित रूप से चौक के जीवन का चर्चा उठाया है तथा उसके माध्यम से लखनऊ और भारतीय समाज की बदलती हुई मानसिकता का यथार्थ चित्र अंकित किया है।[272]

१.५ निष्कर्ष

इसमें संदेह नहीं कि अमृतलाल नागर के कथा साहित्य में एक असाधारण प्रतिभा देखने को मिलती है। हिंदी कथा साहित्य में नागरजी को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उनकी लेखन-शैली पाठकों से एक आत्मीय संबंध स्थापित करने में सक्षम दिखाई देती है। उन्होंने अपने कथा साहित्य में सामाजिक एवं सांस्कृतिक जन-जीवन का वर्णन व्यापक स्तर पर किया है। परतंत्र भारत से लेकर स्वतंत्र भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक जन-जीवन को उनके कथा साहित्य में समग्रता के साथ देखा जा सकता है। साहित्यकारों में नागर जी का स्थान सर्वोपरि है। वे गंभीर साहित्यिक सृष्टा थे, इसीलिए उनके कथा साहित्य में सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक प्रतिबद्धता दिखाई देती है।

अमृतलाल नागर ने अपने कथा साहित्य में लखनऊ के जन-जीवन के अन्तर्गत लखनऊ के सामाजिक जन-जीवन, लखनऊ के सांस्कृतिक जन-जीवन एवं लखनऊ के चौक का जन-जीवन का अवगाहन इस अध्याय में किया गया है। कथा साहित्य लेखन के अंतर्गत उपन्यास लेखन में नागरजी ने जितनी गहराई से गोते लगाए हैं, उतने अन्य विधाओं के लेखन में नहीं। नागरजी के उपन्यासों में स्वातंत्र्यपूर्व और स्वातंत्र्योत्तर भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक जीवन का अत्यंत सुरुचिपूर्ण चित्रण किया है। नागरजी अपने साहित्य लेखन में सदैव लीक से हटकर कुछ नवीन प्रयोग किए हैं। प्रतिबद्ध रचनाकार होने के नाते

नागरजी अपनी रचनाओं में सामाजिक बोध और युगबोध से जुड़े हुए हैं। नागरजी की अभिरुचियों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। पुराण, इतिहास, पुरातत्व और संस्कृति के प्रति उनका गहरा लगाव, एक रचनाकार को आकर्षक और प्रीतिकर बना देता है।

अमृतलाल नागर के संपूर्ण कथा साहित्य में दो-तीन बातें उभरकर सामने आती हैं और लगभग यही बातें उनके कथा साहित्य का केंद्रीय-पक्ष भी हैं। अपनी किताबों में, वक्तव्यों में, अमृतलाल नागर ने बार-बार लखनऊ का वर्णन किया है। और उसमें भी चौक की, चाहे 'बूँद और समुद्र' हो या 'अमृत और विष', 'नवाबी मसनद' हो या 'शतरंज के मोहरे', 'करवट' हो या 'पीढ़ियाँ', हो या 'पाँचवा दस्ता', 'हाजी कूल्फीवाला' हो या 'धर्म संकट' हो या 'सती का दूसरा ब्याह'। लखनऊ के विकास को लेकर अमृतलाल नागर ने लिखा है, 'मुगल साम्राज्य की शक्तियों के बिखरने पर पतन के जमाने में लखनऊ कस्बे से शहर बना। कस्बा भी ऐसा, जो बड़ी पुरानी मंडी होने की वजह से बेशुमार दौलत का धनी था। वाजिदअली शाह के जमाने में एक बात बड़े मार्के की हुई। वह था कि हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियाँ मिलकर शहर को नई चेतना दे गई। 'बूँद और समुद्र' में तो लखनऊ उसमें भी चौक का सामाजिक-जीवन जीवन्त होकर सामने आया है। किस प्रकार मुहल्ला पूरी भारतीय राजनीति, धर्म और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है, वह 'बूँद और समुद्र' में गहराई से देखने लायक है। लखनऊ का उनका यह मुहल्ला एक बूँद की तरह है, जिसमें समुद्र की तरह विशाल भारतीय जन-जीवन का दर्शन होता है। शहर के लोग कैसे रहते हैं, क्या सोचते हैं, क्या खाते हैं, क्या पीते हैं, क्या बातें करते हैं - ये सारी बातें इस उपन्यास में एक साथ उभरकर सामने आती हैं। इस उपन्यास में पात्र ही नहीं आते हैं बल्कि उनके साथ पूरा वातावरण आता है। 'बूँद और समुद्र' के साथ ही अन्य कृतियों में आया। चौक की हवेलियाँ, वहाँ की स्त्रियों के जीवन, पारिवारिक संरचना, पीपल के नीचे चबूतरा, ऊँचे-ऊँचे मछली छाप दरवाजे, गोमती का किनारा, हुस्न और रंग-सुगंध से गमकता-दमकता हुआ हजरतगंज, लालबाग, लखनऊ की मिठाइयाँ, नवाबों के तहखाने, काफी हाउस, हनुमान मंदिर, लखनऊ की पुलिस, बोलचाल आदि लखनऊ की सभ्यता और संस्कृति को पूरी गहराई के साथ उभारते हैं।

नागरजी के कथा-साहित्य में सामाजिक-जनजीवन के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपने समय की सत्यता को उसकी व्यापक एवं जटिलता के साथ पहचानने की कोशिश की है तथा उसे व्यापक सामाजिक संदर्भों में यथार्थ चेतना के साथ प्रस्तुत किया है। नागरजी समग्रतावादी कथाकार हैं। उन्होंने अपनी लेखनी से समाज के वंचित समुदाय के ऐसे

चित्र प्रस्तुत किए हैं, जो गर्त में पड़े हुए थे। उन्होंने समाज के प्रत्येक स्तर से अपने कथा साहित्य की सामग्री को एकत्रित किया है। सभी के प्रति संवेदनशील होने के कारण समाज के समग्र रूप को अभिव्यक्ति करने में सफल हुए हैं। उनकी यह समग्रता समाज में व्याप्त विभिन्न वर्ग, जातियों की अवस्था और स्वभाव, उनका सांस्कृतिक धरातल तथा उनके अनुरूप विभिन्न समस्याओं के रूप में चित्रित हुए हैं। वे केवल वर्ग-संघर्ष में विश्वास करने वाले कोई प्रगतिवादी कथाकार नहीं है, अपितु उनकी प्रगतिशीलता पाठकों के लिए विचार के नाते रचनात्मक आयाम भी खोजती है। उन्होंने प्रत्येक मत एवं विचार का सारभूत अंश लेकर उसे सामाजिक-जीवन के लिए उपादेय बना देने में ही कथा-साहित्य की सार्थकता को समझा है। उनके कथा साहित्य के अन्तर्गत 'उपन्यास' विधा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उनके उपन्यास कथ्य, उद्देश्य और भाषा की दृष्टि से हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यास-साहित्य में अपना स्थान रखते हैं। सामाजिक उपन्यास (महाकाल, बूँद और समुद्र, अमृत और विष, सुहाग के नूपुर) ऐतिहासिक उपन्यास (शतरंज के मोहरे, सात घूँघट वाला मुखड़ा) आदि में उनकी सजग सामाजिक-चेतना का दिग्दर्शन होता है। इन औपन्यासिक कृतियों में मानव-जीवन के बाह्य तथा आन्तरिक-द्वन्द्व एवं संघर्ष की विस्तृत व्याख्या हुई है।

नागरजी ने अपने उपन्यास 'महाकाल' में अकाल से पीड़ित जनता के जीवन संघर्ष, नये-पुराने विचारों के द्वन्द्व, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक संघर्ष, कामवासनाओं के संघर्ष आदि का यथार्थ निरूपण करके, उनके समाधान को खोजने का प्रयास भी किया है। उन्होंने जीवन में संघर्ष को महत्वपूर्ण मानते हुए सभी मोर्चे पर युद्ध को अनिवार्य घोषित किया है। उनका विचार है कि अंधकार में प्रकाश लाने के लिए लगातार संघर्ष और प्रयत्न की आवश्यकता है। बिना संघर्ष के मानव-जीवन की प्रमुख समस्याओं को हल नहीं किया जा सकता।

'सेठ बाँकेमल' में नये-पुराने विचारों का संघर्ष दिखलाई पड़ता है। उपन्यास का एक पात्र जिसका नाम पारसनाथ चौबे है, वह नये विचारों का समर्थक है और वहीं सेठ बाँकेमल, जिसके नाम पर उपन्यास का नाम रखा गया है, परंपरागत या पुराने विचारों के समर्थक हैं। अमृतलाल नागर ने इन दोनों के माध्यम से नयी-पुरानी मान्यताओं के संघर्ष को चित्रित करने के साथ-साथ अनेक सामाजिक अनाचारों, विसंगतियों एवं जर्जर रूढ़ियों पर मीठी-मीठी चोंटे की है।

अमृतलाल नागर ने जहाँ परंपरागत रूप से चली आ रही जीर्ण रूढ़ियों, जाति-पाँति, छुआ-छूत पाशविकता, घुटन, अनाचार, उत्पीड़न, जादू-टोना, सांप्रदायिकता, भूत-प्रेत, अंधविश्वास,

अनमेल विवाह आदि के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा देते हैं तो दूसरी ओर आधुनिक नास्तिकता, स्वार्थपरता, भोगलिप्सा, फैशन आदि का विरोध करते हैं। वस्तुतः उनका दृष्टिकोण प्रगतिशील है। वे समाज को हर प्रकार की सुविधाओं से युक्त देखना चाहते हैं। 'अमृत और विष' में देश समाज एवं धर्म की विविध संघर्षों को एक साथ अभिव्यक्ति मिली है। इस उपन्यास का एक पात्र अरविंदशंकर सभी प्रकार की बुराइयों, असंगतियों एवं अज्ञानताओं के विरुद्ध संघर्ष करने का संकल्प करता है। इस उपन्यास में सांप्रदायिक संघर्षों के मूल में राजनीतिक नेताओं की स्वार्थपरता, छल-छंद तथा कुटिनीति को निर्दिष्ट किया गया है। नागरजी हिंदू-मुस्लिम या शिया-सुन्नी के संघर्ष विकृत-राजनीति की देन समझते हैं। यह भ्रष्ट राजनीति ही समाज में नैतिक पतन लाती है। फलत: नागरजी संकीर्ण स्वार्थों से ग्रस्त विकृत-राजनीति के विरुद्ध संघर्ष का आह्वान करते हैं।

'नवाबी मसनद' में अमृतलाल नागर ने लखनऊ और वहाँ की नवाबी संस्कृति को जितनी गहराई के साथ देखा है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। 'शतरंज के मोहरे' में भी उन्होंने नवाबी शासनकाल की लखनवी संस्कृति का सजीव और यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। उनकी विलासिता का नंगा नाच, चरित्रों का नैतिक पतन, हरमों में होने वाले व्यभिचार आदि का खुलकर चित्रण किया है। 'अमृत और विष' भी इस मामले में उनका महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में भी लखनऊ की राजनीतिक-महत्वाकांक्षा, छात्र-आन्दोलन, युवा वर्ग, गोमती में आई बाढ़, वहाँ के पूँजीपतियों की यशाकांक्षी राजनीतिक महत्वाकांक्षा आदि का जितनी गहराई के साथ नागरजी ने विश्लेषण किया है, वह लखनऊ के रूप में पूरी भारतीय मानसिकता का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार 'ये कोठेवालियों' में लखनऊ की वेश्याओं का जीवन-संघर्ष उभरकर सामने आया है। अपने उपन्यासों-- 'करवट' (१९८५) और 'पीढ़ियाँ' (१९९०) में भी नागरजी ने लखनऊ और उसमें भी चौक के जीवन के माध्यम से भारत में अंग्रेजी राज के आगमन और उसके प्रभाव से भारत की बदलती हुई व्यक्तिगत और पारिवारिक जिन्दगी की ओर संकेत किया है। इसी प्रकार नागरजी की कहानियों में भी लखनऊ का सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन गहराई के साथ उभरकर सामने आया है। 'एक दिल हजार दास्ताँ' में गप्प के माध्यम से उन्होंने लखनऊ के विविध पक्षों का गहरा रेखांकन किया है। वहाँ की संस्कृति के विषय में बतलाते हुए अमृतलाल नागर लिखते हैं- "वाजिदअली शाह के जमाने में हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियाँ मिलकर शहर को नई चेतना दे गईं। होली, दिवाली, मोहर्रम समान रूप से नगर के त्यौहार बने। मस्ती में उरूज की यह मिसाल हिंदू-

मुस्लिम एकता इस शहर की अनूठी खूबी है। मस्ती, दरियादिली, एकता और कला के प्रेम से इस शहर में इंसानियत की देवी का सिंगार हुआ है।"[273]

अमृतलाल नागर की कथ्य-कृतियों में 'आदमी, नहीं! नहीं!!' 'पाँचवा दास्ताँ' 'दो आस्थाएँ', 'हाजी कुल्फीवाला', 'नजीर मियाँ', 'सती का दूसरा ब्याह', 'धर्म संकट', 'लंगूर का बच्चा', 'मां बाप और बच्चे', 'सिकंदर हार गया', 'ओढ़री सरकार' आदि कहानियों में लखनवी समाज एवं संस्कृति की समस्त गतिविधियों का वर्णन देखने को मिलता है। नारी सम्बन्धी समस्याओं में उन्होंने अनमेल विवाह, वेश्या समस्या, नारी की सामाजिक-आर्थिक पराधीनता तथा नारी अधिकार आदि को उठाया है। समाज के मार्ग में बाधक समस्याओं के रूप में उन्होंने जमीदार, महाजन एवं पूँजीपतियों द्वारा आर्थिक शोषण, अकाल, रिश्वतखोरी एवं भ्रष्टाचार आदि को केंद्र में रखा है। समाज को अंदर से खोखला करने वाली मान्यताओं के रूप में जाति-पाँति एवं छुआछूत, सांप्रदायिक वैमनस्य, धार्मिक पाखंड, अंधविश्वास एवं जर्जर रूढ़ियों आदि से संबंधित समस्याओं को दर्शा कर भी नागरजी ने समाज का एक विस्तृत फलक प्रस्तुत किया है।

१.६ संदर्भ

१. बन्धु कुशावर्तीजी से बातचीत, लखनऊ, २८/०९/२०२०

२. अमृतलाल नागर के उपन्यासों का समाजशास्त्रीय अध्ययन- डॉ. अशोक मिश्र, पृष्ठ ०७

३. अमृतलाल नागर के उपन्यासों में नगरीय जीवन- डॉ. रमेश मेहरा, पृष्ठ १३

४. 'बूँद और समुद्र'- अमृतलाल नागर, पृष्ठ २१

५. अमृतलाल नागर के उपन्यासों में समाज और संस्कृति, पृष्ठ १२५

६. वही, पृष्ठ १२५

७. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर, पृ. १६

८. शतरंज के मोहरे- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ३७

९. वही, पृष्ठ ३८

१०. वही, पृष्ठ ४८

११. शतरंज के मोहरे- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ६८

१२. वही, पृष्ठ ६९

१३. वही, पृष्ठ १७४

१४. वही, पृष्ठ ४९

१५. शतरंज के मोहरे- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ५४,५५

१६. वही, पृष्ठ ५५

१७. शतरंज के मोहरे- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ५५

१८. वही, पृष्ठ ५०

१९. वही, पृष्ठ १८८

२०. शतरंज के मोहरे- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ३९

२१. वही, पृष्ठ ३९

२२. वही, पृष्ठ ९१

२३. वही, पृष्ठ ३९

२४. शतरंज के मोहरे- अमृतलाल नागर, पृष्ठ २०८

२५. वही, पृष्ठ २६९

२६. वही, पृष्ठ २७०

२७. वही, पृष्ठ १५४

२८. शतरंज के मोहरे- अमृतलाल नागर, पृष्ठ २१०

२९. वही, पृष्ठ २३१

३०. वही, पृष्ठ २३२

३१. वही, पृष्ठ १०७,१०९

३२. वही, पृष्ठ १०९

३३. वही, पृष्ठ ९६

३४. शतरंज के मोहरे- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १४९

३५. वही, पृष्ठ १४९

३६ . वही, पृष्ठ १८३-१८४

३७. शतरंज के मोहरे- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १४९

३८. वही, पृष्ठ १४९

३९. वही, पृष्ठ २०२

४०. वही, पृष्ठ २०३

४१. वही, पृष्ठ २०३

४२. वही, पृष्ठ २०३

४३. वही, पृष्ठ २०४

४४. वही, पृष्ठ २०३

४५. वही, पृष्ठ २०४

४६. शतरंज के मोहरे- अमृतलाल नागर, पृष्ठ २१३

४७. मेरी प्रिय कहानियाँ- अमृतलाल नागर, पृष्ठ २०

४८. शतरंज के मोहरे- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ०९

४९. वहीं, पृष्ठ ०९,१०,११

५०. वही, पृष्ठ ९९

५१. वही, पृष्ठ ९९,१००

५२. वही, पृष्ठ २१७

५३. वही, पृष्ठ २१७

५४. वही, पृष्ठ ८९

५५. शतरंज के मोहरे, पृष्ठ ८९

५६. वही, पृष्ठ ८९

५७. शतरंज के मोहरे- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ५५

५८. बन्धु कुशावर्तीजी से बातचीत, लखनऊ, २८/०९/२०२०

५९. अब्दुल हलीम 'शरर', पुराना लखनऊ, पृष्ठ ३२

६०. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ४२

६१. वही, पृष्ठ ४२

६२. वही, पृष्ठ ४३

६३. शतरंज के मोहरे- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ३०५,३०८

६४. साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ २१६-२१८

६५. कथाकार अमृतलाल नागर, शहर की संस्कृति और इतिहास के कुछ सवाल- देवेन्द्र चौबे, पृष्ठ ९४

६६. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १०२

६७. वही, पृष्ठ १०२

६८. वही, पृष्ठ १३१

६९. वही, पृष्ठ ११४

७०. कथाकार अमृतलाल नागर, शहर की संस्कृति और इतिहास के कुछ सवाल- देवेन्द्र चौबे, पृष्ठ ९५

७१. करवट, पृष्ठ १४४

७२. वही, पृष्ठ ३७

७३. ए.आर. देशाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ २४

७४. अमृतलाल नागर, साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ ११२-११३

७५. ए.आर. देशाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ १४४

७६. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ३०-३१

७७. वही, पृष्ठ १४१

७८. वही, पृष्ठ ५९

७९. करवट, पृष्ठ ५९

८०. वही, पृष्ठ ६९

८१. वही, पृष्ठ १०९

८२. वही, पृष्ठ ८४

८३. वही, पृष्ठ ९९

८४. वही, पृष्ठ १०९

८५. वही, पृष्ठ १०९

८६. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १७३-१७४

८७. वही, पृष्ठ १६६

८८. वही, पृष्ठ १४४

८९. वही, पृष्ठ १५५

९०. वही, पृष्ठ १४५-१४६

९१. वही, पृष्ठ १४७

९२. करवट- अमृतलाल नागर, निवेदनम्, पृष्ठ ०७

९३.. वही, पृष्ठ १४९

९४. वही, पृष्ठ १५०

९५. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ २३८

९६. वही, पृष्ठ १७१

९७. करवट, पृष्ठ १७३

९८. वही, पृष्ठ १७३

९९. वही, पृष्ठ १७३-१७४

१००. वही, पृष्ठ १७४

१०१. वही, पृष्ठ १७७

१०१. कथाकार अमृतलाल नागर, शहर की संस्कृति और इतिहास के कुछ सवाल- देवेन्द्र चौबे, पृष्ठ ९९-१००

१०२. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १७७

१०३. वही, पृष्ठ १७८,२३८

१०४. वही, पृष्ठ २९,३०,२४१

१०५. वही, पृष्ठ २६३,२६४

१०६. वही, पृष्ठ ३५१

१०७. पीढ़ियाँ,- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ७२,७९,८६

१०८. पीढ़ियाँ, पृष्ठ १६२,१६४

१०९. वही, पृष्ठ १२१,१३१

११०. बन्धुकुशावर्ती सर से बातचीत, दिनांक- २९/०९/२०२०, दिन- बुधवार

१११. कथाकार अमृतलाल नागर, शहर की संस्कृति और इतिहास के कुछ सवाल- देवेन्द्र चौबे, पृष्ठ १०२

११२. पीढ़ियाँ- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १६०

११३. वही, पृष्ठ ८८,८९

११४. वही, पृष्ठ १२४

११५. वही, पृष्ठ १४७

११६. पीढ़ियाँ- अमृतलाल नागर, पृष्ठ २४७,२४८,२८१

११७. वही, पृष्ठ ३२२,३२३

११८. वही, पृष्ठ ३२३

११९. वही, पृष्ठ ३५४,३५७

१२०. कथाकार अमृतलाल नागर, शहर की संस्कृति और इतिहास के कुछ सवाल- देवेन्द्र चौबे, पृष्ठ १०५

१२१. पीढ़ियाँ,- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ३५५

१२२. वही, पृष्ठ ३७४

१२३. वही, पृष्ठ ३७८

१२४. वही, पृष्ठ ३७९

१२५. वही, पृष्ठ ३८४

१२६. वही, पृष्ठ ३८३

१२७. वही, पृष्ठ ३८५,४०१

१२८. पीढ़ियाँ- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ०५

१२९. करवट- अमृतलाल नागर, निवेदनम्, पृष्ठ ०७

१३०. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १३४

१३१. वही, पृष्ठ १४१

१३२. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर, पृष्ठ २५४

१३३. वही, पृष्ठ ८४

१३४. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ३५५

१३५. वही, पृष्ठ १२५, १४८, १७३

१३६. वही, पृष्ठ १०५

१३७. 'अमृत और विष' के लच्छू की मास्को यात्रा में, पृष्ठ ३७१

१३८. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ६६

१३९. अमृत और विष- अमृतलाल नागर, पृष्ठ २२३, २५७

१४०. रामविलास शर्मा, कथा विवेचश और गद्य शिल्प, पृष्ठ ६२

१४१. अमृत और विष- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ७३,१७७

१४२. वही, पृष्ठ १९५

१४३. वही, पृष्ठ ३८४

१४४. अमृत और विष- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ३८५,४८४,४८५,४८७,५१९

१४५. वही, पृष्ठ ५६९,५८६

१४६. वही, पृष्ठ ६१४, ६३२

१४७. वही, पृष्ठ २०३-२०४

१४८. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ४७४

१४९. वही, पृष्ठ ४८९

१५०. अमृत और विष- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ४०

१५१. वही, पृष्ठ ३५

१५२. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १०८

१५३. वही, पृष्ठ ४९

१५४. वही, पृष्ठ १८६, १८७, ४३६

१५५. अमृत और विष, पृष्ठ ४२५, ४२६, ५८८

१५६. जनसत्ता (रविवारी), नई दिल्ली, ०४/०३/१९९०

१५७. कथाकार अमृतलाल नागर, शहर की संस्कृति और इतिहास के कुछ सवाल- देवेन्द्र चौबे, पृष्ठ १४०

१५८. अमृत और विष- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ४६७, ४६८

१५९. शतरंज के मोहरे, पृष्ठ ५५

१६०. शतरंज के मोहरे- अमृतलाल नागर, पृष्ठ २५४

१६१. वही, पृष्ठ ७३, ७४, २५५

१६२. मेरी प्रिय कहानियाँ- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ८१

१६३. बन्धु कुशावर्तीजी से बातचीत, लखनऊ, २९/०९/२०२०

१६४. मेरी प्रिय कहानियाँ- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ८६

१६५. अमृत और विष- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ३१६-३१७

१६६. मेरी प्रिय कहानियाँ- अमृतलाल नागर,पृष्ठ ८६

१६७. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १०१-१०२

१६८. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ३२५-३२६

१६९. अमृतलाल नागर- बूँद और समुद्र, पृष्ठ ४७३, ४७४, ४७९

१७०. वही, पृष्ठ ४७९-४८०

१७१. करवट, पृष्ठ ३२७

१७२. वही, पृष्ठ ३२८, ३२९

१७३. , ष्ठ

. , ष्ठ

. ँ द्र- , ष्ठ

. , ष्ठ

. - , ष्ठ

. ँ द्र- , ष्ठ

. - , ष्ठ

. - , ष्ठ , , ,

. ि , ष्ठ , ,

. , ष्ठ

. ि - , ष्ठ , ,

. - , ष्ठ -

. , ष्ठ , ,

. - , ष्ठ

. , ष्ठ ,

. - , ष्ठ , ,

. , ष्ठ , ,

. - , ष्ठ ,

. , ष्ठ

. - , ष्ठ , , ; ँ द्र- , ष्ठ

१०२, ३४५

१९३. करवट- अमृतलाल नागर,पृष्ठ 277

१९४. शतरंज के मोहरे, शतरंज के मोहरे, पृष्ठ 39, 48, 68, 69

१९५. कथाकार अमृतलाल नागर, शहर की संस्कृति और इतिहास के कुछ सवाल- देवेन्द्र चौबे, पृष्ठ १५३

१९६. शतरंज के मोहरे- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ५१, २६२, २६४

१९७. मेरी प्रिय कहानियाँ- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ८०, ८१, ८५

१९८. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ 117, 118, २३८, ३०७

१९९. शतरंज के मोहरे- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १५१, १५२

२००. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १०५, २५०

२०१. शतरंज के मोहरे- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १७८

२०२. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १११

२०३. वही, पृष्ठ २६९

२०४. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर,पृष्ठ ४२

२०५. नवाबी मसनद- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १६

२०६. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ११

२०७. अमृतलाल नागर-हम फिदा-ए-लखनऊ, पृष्ठ १०

२०८. मेरी प्रिय कहानियाँ- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ७०

२०९. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ०५

२१०. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १४६

२११. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ०२, ०३

२१२. पीढ़ियाँ- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ८९

२१३. बन्धु कुशावर्तीजी से बातचीत, लखनऊ, २८/०९/२०२०

२१४. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ०१

२१५. अमृत और विष- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ५९०

२१६. वही, पृष्ठ ५९०

२१७. वही, पृष्ठ ५९०

२१८. वही, पृष्ठ ५९१

२१९. अमृत और विष- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ५९१

२२०. अमृतलाल नागर-साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ ९७

२२१. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ 22

२२२. आस्था और सौंदर्य- रामविलास शर्मा, पृष्ठ १३९

२२३. अमृतलाल नागर-साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ १९६

२२४. बन्धु कुशावर्तीजी से बातचीत, लखनऊ, २७/०९/२०२०

२२५. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ २८

२२६. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १४९, १५२, १५२

२२७. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १०९

२२८. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर, पृष्ठ २३, २४

२२९. वहीं, पृष्ठ २४

२३०. वहीं, पृष्ठ ०९, १०

२३१. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर, पृष्ठ २५

२३२. वहीं, पृष्ठ ३८, ३९, ११५

२३३. वही, पृष्ठ ११६

२३४. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ २९९, ३००

२३५. पीढ़ियाँ- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १४७

२३६. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ २०४

२३७. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर,पृष्ठ ७२

२३८. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १३४

२३९. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ११, १२

२४०. आस्था और सौंदर्य- रामविलास शर्मा, पृष्ठ १३८

२४१. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १०

२४२. वहीं, पृष्ठ १३

२४३. वहीं, पृष्ठ २१, १६८, ३३१

२४४. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ०४, १९, १६१, १६२, २९९

२४५. वही, पृष्ठ ३००

२४६. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १३२, १३७

२४७. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १३८, १३९

२४८. वहीं, पृष्ठ १४६

२३९. वहीं, पृष्ठ १४७

२५०. वहीं, पृष्ठ ७२

२५१. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ६३

२५२. वहीं, पृष्ठ ०१

२५३. वहीं, पृष्ठ ४३३

२५४. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ २७७

२५५. करवट- अमृतलाल नागर, पृष्ठ २७७, २७८

२५६. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ३९

२५७. वहीं, पृष्ठ ४०

२५८. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ५१८

२५९. वहीं, पृष्ठ १५२

२६०. वहीं, पृष्ठ १५३

२६१. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १५३

२६३. अमृत और विष- अमृतलाल नागर, पृष्ठ १३३, १३५, १३६

२६४. करवट- अमृतलाल नागर,पृष्ठ १४४

२६४. मेरी प्रिय कहानियाँ- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ७९

२६५. बन्धु कुशावर्तीजी से बातचीत, लखनऊ, २९/०९/२०२०

२६६. वहीं !

२६७. आस्था और सौंदर्य- रामविलास शर्मा, पृष्ठ १३६,१३७

२६८. वहीं, पृष्ठ १३६

२६९. करवट- अमृतलाल नागर,पृष्ठ ३५९

२७०. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ०२, ०३, ०७, ११५

२७१. आस्था और सौंदर्य- रामविलास शर्मा, पृष्ठ १३४

२७२. बन्धु कुशावर्तीजी से बातचीत, लखनऊ, २८/०९/२०२०

२७३. बन्धु कुशावर्तीजी से बातचीत, लखनऊ, २८/०९/२०२०